प्रकाशक का वक्तव्य

कर्म प्रधान जैन दर्शन के सम्यग्ज्ञान के लिये कर्म तत्व का ज्ञान होना परम आवश्यक है। जैन आगमो का यथार्थ व पूर्ण ज्ञान भी कर्म तत्व का जैसा स्पष्ट एव क्रमवद्ध ज्ञान 'कर्म ग्रन्थो' के द्वारा हो सकता है, वैसा तद्विषयक अन्य ग्रन्थो द्वारा नही। यही कारण है कि जैन साहित्य मे कर्म ग्रन्थो का अपना एक विशेष महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कर्म तत्व के जिज्ञासुओ और शोधकर्ताओ मे भी जितना प्रचार प्रसार इन ग्रन्थो का देखा जाता है, उतना उस विपय के दूसरे ग्रन्थो का नही। इससे इनकी उपादेयता एव महत्ता स्वय सिद्ध है।

कर्म ग्रन्थो मे भी विषय वस्तु की महत्ता तथा सरलता के कारण प्रथम कर्म ग्रन्थ का प्रचार विशेप रुप से देखा जाता है। जो पाठक विषय की गूढता तथा व्यापकता के कारण दूसरे कर्म ग्रन्थो के पठन-पाठन मे अपने को असमर्थ पाते हैं, वे भी यथा सम्भव प्रथम कर्म ग्रन्थ को पढते-पढाते है। यही कारण है कि इसी को अधिका-धिक उपयोगी, सुबोध और सुलभ वनाने के प्रयत्न भी किये गये है। गुजराती भाषा मे इस दिशा मे काफी काम हुआ है। उसमे इन सभी ग्रन्थो पर टीका तथा विलेचन आदि उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए श्री जयसोमसूरि

को यथा सभव अधिकाधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

कर्मग्रन्थ के छहो भागो को अनेक विद्यालयो तथा धार्मिक परीक्षा बोर्डो (जैसे-श्री साधुमार्गी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, बीकानेर व श्री तिलोकरत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी) ने अपने पाठ्यक्रमो मे सम्मिलित किया है। अत धार्मिक परीक्षाओ मे सम्मिलित होने वाले साधु-साध्वी, श्रावक श्राविका तथा सकल जैन तत्व जिज्ञासुओ की ओर से इसकी काफी माग रहती है, जिनकी पूर्ति करना अत्यावश्यक है। पहले तीन बार आगरा के श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल की ओर से कर्मग्रन्थ के सभी भागो का प्रकाशन हुआ था। तत्पश्चात तृतीय और अन्तिम प्रकाशन सन् १९४९ मे हुआ था। वर्तमान मे ये सभी भाग प्राय अप्राप्य है, इसीलिए इसका पुन प्रकाशन कराने का निश्चय किया गया है। पुस्तक प्रकाशन से जो आय होगी, उसका उपयोग पुन इसके दूसरे भागो के प्रकाशन मे किया जायगा। इस सस्था द्वारा इसके पूर्व भी 'रत्नाकर पच्चीसी' तथा 'सृष्टि कर्तृत्व मीमासा' नामक दो पुस्तको का प्रकाशन किया जा चुका है। पुस्तक प्रकाशन के इस शुभ कार्य मे जिन महानुभावो का उदारतापूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, उनकी शुभ नामावली पुस्तक मे सलग्न है।

अन्त मे कर्मग्रन्थ के प्रस्तुत प्रकाशन को सहृदय पाठको के सम्मुख रखते हुए हम आशा एव अपेक्षा करते है कि वे इसका अधिकाधिक उपयोग करेंगे।

पुस्तक के प्रकाशन मे अत्यन्त सावधानी वरती गी है। लेकिन यदि कोई त्रुटी रह गयी हो तो पाठकगण सुधार लेवे। हम प्रसारण प्रेस व्यस्थापक एव कार्य कत्ताओ के भी अत्यन्त आभारी है। जिन्होने बहुत ही कम समय मे सुन्दर एव उत्तम प्रकार से पुस्तक का प्रकाशन का कार्य सपन्न किया किया। पुस्तक प्रकाशन कार्य के लिये सहायता प्रदान करने वाले एव समय-२ पर यथोचित मार्ग दर्शन वाले भाईयो एव वहिनो के प्रति हम कृतज्ञता प्रकट करता अपना पावन कर्तव्य समझते है। हमे पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थो पाठको के लिये उपयोगी एव रूचिकर सिद्ध होगा।

मिती पौष कृष्णा ३ निवेदक
स २०२९ वीर स २४९९ शातिलाल भटेवरा जैन

अनुक्रमणिका

५) श्रीमान सेठ तनसुखलालजी कल्याणमलजी अग्रवाल, रतलाम
५) श्रीमान सेठ शैतानमलजी रतनलालजी चण्डालिया, रतलाम
५) श्रीमान सेठ समीरमलजी लेखराजजी बौराना, रतलाम
५) श्रीमान सेठ माणकलालजी केशरीमलजी हिंगड़, रतलाम
५) श्रीमान सेठ समरथमलजी धुलजी बाफणा, रतलाम
५) श्रीमान सेठ शातिलालजी रतनलालजी कोठारी, रतलाम
५) श्रीमान सेठ समरथमलजी राजमलजी आचरिया, रतलाम
५) श्री सिद्ध चक्र मडल, रतलाम
५) श्रीमती घुरीबाई पति चपालालजी पिरोदिया, रतलाम
५) श्रीमती कमलाबाई पति बसन्तीलालजी कटारिया,रतलाम
५) श्रीमती चांदबाई पति चपालालजी कटारिया, रतलाम
५) श्रीमती सुमनबाई नाहर, रतलाम
५) श्रीमती रतनबाई पति लालचदजी मुनत, रतलाम
५) श्रीमती रतनबाई नामली वाला, रतलाम
५) श्रीमती मोहनबाई नामली वाला, रतलाम
५) श्रीमती कोमलबाई पति हस्तीमलजी मुनत, रतलाम
५) श्रीमती मोत्तनबाई मुनत, रतलाम
५) श्रीमती नानीबाई चादबाई ओगा वाला, रतलाम
३) श्रीमान सेठ कातिलालजी माणकलालजी पटवा, रतलाम
२) श्रीमान सेठ वर्धमान गेन्दालालजी कटारिया, रतलाम
२) श्रीमती कोमलबाई पति इन्दरमलजी कटारिया, रतलाम
२) श्रीमती मोहनबाई पति बसन्तीलालजी पिरोदिया, रतलाम

— ※ —

चारित्र्य-मंगलाचरण

चत्तारि परमगाणी, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।

माणु सत्त सुईसद्धा, सजम्मिय वीरिय ॥उत्तरा अ. ३ गाथा १ ॥

असखय जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्सहु णत्थि ताण ।

एव वियाणाहि जणेपमत्ते, किण्णु विहिसा अजयागहिति ॥

॥उत्तरा अ ४ गाथा १॥

सुत्तेसु यावि पडिबुद्धजीवी, णो वीससे पडिए आसुपण्णे ।

घोरा मुहुत्ता अबल शरीर, भारडपक्खी व चरेऽप्पमत्ते ॥

॥उत्तरा अ ४ गाथा ६॥

प्रस्तावना

कर्मवाद का मन्तव्य

कर्मवाद का मानना यह है कि सुख-दु ख, सम्पत्ति-विपत्ति, ऊच-नीच आदि जो अनेक अवस्थाए दृष्टि-गोचर होती हैं, उनके होने मे काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि अन्य-अन्य कारणों की तरह कर्म भी एक कारण है। परन्तु अन्य दर्शनो की तरह कर्मवाद-प्रधान जैन-दर्शन ईश्वर को उक्त अवस्थाओ का या सृष्टि की उत्पत्ति का कारण नही मानता। दूसरे दर्शनो में किसी समय सृष्टि की उत्पन्न होना माना गया है, अतएव उनमे सृष्टि की उत्पत्ति के साथ किसी न किसी तरह का ईश्वर का सम्वन्ध जोड दिया गया है। न्यायदर्शन, गौतमसूत्र अ. ४, आ १, सू २१ मे कहा है कि अच्छे-बुरे कर्म के फल ईश्वर की प्रेरणा से मिलते है—"तत्कारितत्वाद हेतु"।

वैशेषिक दर्शन, प्रशस्तपाद-भाष्य पृ ४८ मे ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानकर, उसके स्वरूप का वर्णन किया है।

योगदर्शन, समाधिपाद सू २४ के भाष्य व टीका मे ईश्वर के अधिष्ठान से प्रकृति का परिणाम—जड जगत का फैलाव माना है।

और श्री शङ्कराचार्य्य ने भी अपने ब्रह्मसूत्र २-१-२६ के भाष्य मे, उपनिषद् के आधार पर जगह जगह ब्रह्म को सृष्टि का उपादान कारण सिद्ध किया है। जैसे —

"चेतनमेकमद्वितीय ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवच्चानपेक्ष्य वाह्य-साधन स्वय परिणममानं जगत कारणमिति स्थितम्।"

"तस्मादशेषवस्तुविषयमेवेद सर्वविज्ञान सर्वस्य ब्रह्मकार्य-तापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम्"–ब्रह्म अ २, पा ३, अ १, सू. ६ का भाष्य।

"अत श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद्ब्रह्मण आकाशादिमहाभूतो-त्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते"–ब्रह्म अ २, पा ३, अ १, सू ७ का भाष्य।

प्राणियो को कर्म-फल भोगवाता है। ३—ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिये कि जो सदा से मुक्त हो, और मुक्त जीवो की अपेक्षा भी जिसमे कुछ विशेपता हो। इसलिये कर्मवाद का यह मानना ठीक नही कि कर्म से छूट जाने पर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं।

पहले आपेक्ष का समाधान—यह जगत् किसी समय नया नही बना, वह सदा से ही है। हा, इसमे परिवर्तन हुआ करते हैं। अनेक परिवर्तन ऐसे होते है कि जिनके होने मे मनुष्य आदि प्राणीवर्ग के प्रयत्न की अपेक्षा देखी जाती है, तथा ऐसे परिवर्तन भी होते है कि जिनमे किसी के प्रयत्न की अपेक्षा नही रहती। वे जड तत्त्वो के तरह तरह के सयोगो से-उष्णता, वेग, क्रिया आदि शक्तियो से बनते रहते हैं। उदाहरणार्थ, मिट्टी पत्थर आदि चीजो के इकट्ठा होने से छोटे-मोटे टीले या पहाड का वन जाना, इधर-उधर से पानी का प्रवाह मिल जाने से उनका नदी रूप मे वहना, भाप का पानी रूप मे वरसना और फिर से पानी का भाप रूप वन जाना इत्यादि। इसलिये ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानने की कोई जरूरत नही है।

दूसरे आपेक्षा का समाधान—प्राणी जैसा कर्म करते हैं वैसा फल उनको कर्म के द्वारा ही मिल जाता है। कर्म जड है और प्राणी अपने किये वुरे कर्म का फल नही चाहते, यह ठीक है, पर यह घ्यान मे रखना चाहिये कि जीव के चेतन के सग से कर्म मे ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वह अपने अच्छे-वुरे विपाको को नियत समय पर जीव पर प्रकट करता है। कर्मवाद यह नही मानता कि चेतन के सम्बन्ध के विना ही जड़ कर्म भोग देने मे समर्थ है। वह इतना ही कहता है

"तस्मादशेषवस्तुविषयमेवेद सर्वविज्ञान सर्वस्य ब्रह्मकार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम्"—ब्रह्म अ २, पा ३, अ १, सू. ६ का भाष्य ।

"अत श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद्ब्रह्मण आकाशादिमहाभूतोत्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते"—ब्रह्म अ २, पा ३, अ. १, सू ७ का भाष्य ।

परन्तु जीवो से फल भोगवाने के लिए जैन-दर्शन ईश्वर को कर्म का प्रेरक नही मानता। क्योकि कर्मवाद का मन्तव्य है कि जैसे जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र है वैसे ही उसके फल को भोगने मे भी। कहा है कि—"य. कर्त्ता कर्मभेदाना, भोक्ता कर्मफलस्य च । ससर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षय "॥१॥

इसी प्रकार जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टि का अधिष्ठाता भी नहीं मानता, क्योकि उसके मत से सृष्टि अनादि अनन्त होने से वह कभी अपूर्व उत्पन्न नही हुई तथा वह स्वय ही परिणमन-शील है, इसलिये ईश्वर के अधिष्ठान की अपेक्षा नही रखती।

कर्मवाद पर होने वाले मुख्य आक्षेप और उनका समाधान

ईश्वर को कर्त्ता या प्रेरक मानने वाले, कर्मवाद पर नीचे लिखे तीन आक्षेप करते है —

१—घडी, मकान आदि छोटी-मोटी चीजे यदि किसी व्यक्ति के द्वारा ही निर्मित होती है तो फिर सम्पूर्ण जगत्, जो कि कार्यरूप दिखाई देता है, उसका भी उत्पादक कोई अवश्य होना चाहिये। २—सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते है, पर कोई बुरे कर्म का फल नही चाहता और कर्म स्वय जड होने से किसी चेतन की प्रेरणा के बिना फल देने मे असमर्थ है। इसलिये कर्मवादियो को भी मानना चाहिये कि ईश्वर ही

प्राणियो को कर्म-फल भोगवाता है। ३—ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिये कि जो सदा से मुक्त हो, और मुक्त जीवो की अपेक्षा भी जिसमे कुछ विशेषता हो। इसलिये कर्मवाद का यह मानना ठीक नही कि कर्म से छूट जाने पर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं।

पहले आपेक्ष का समाधान—यह जगत् किसी समय नया नही वना, वह सदा से ही है। हा, इसमे परिवर्तन हुआ करते हैं। अनेक परिवर्तन ऐसे होते हैं कि जिनके होने मे मनुष्य आदि प्राणीवर्ग के प्रयत्न की अपेक्षा देखी जाती है, तथा ऐसे परिवर्तन भी होते है कि जिनमे किसी के प्रयत्न की अपेक्षा नही रहती। वे जड तत्त्वो के तरह तरह के सयोगो से-उष्णता, वेग, क्रिया आदि शक्तियो से बनते रहते है। उदाहरणार्थ, मिट्टी पत्थर आदि चीजो के इकट्ठा होने से छोटे-मोटे टीले या पहाड का वन जाना, इधर-उधर से पानी का प्रवाह मिल जाने से उनका नदी रूप मे वहना, भाप का पानी रूप मे वरसना और फिर से पानी का भाप रूप वन जाना इत्यादि। इसलिये ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानने की कोई जरूरत नही है।

दूसरे आपेक्षा का समाधान—प्राणी जैसा कर्म करते है वैसा फल उनको कर्म के द्वारा ही मिल जाता है। कर्म जड है और प्राणी अपने किये बुरे कर्म का फल नही चाहते, यह ठीक है, पर यह ध्यान मे रखना चाहिये कि जीव के चेतन के सग से कर्म मे ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वह अपने अच्छे-बुरे विपाको को नियत समय पर जीव पर प्रकट करता है। कर्मवाद यह नही मानता कि चेतन के सम्बन्ध के विना ही जड कर्म भोग देने मे समर्थ है। वह इतना ही कहता है

कि फल देने के लिये ईश्वर रूप चेतन की प्रेरणा मानने की कोई जरूरत नही। क्योंकि सभी जीव चेतन है। वे जैसा कर्म करते है उसके अनुसार उनकी बुद्धि वैसी ही बन जाती है, जिससे बुरे कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा कृत्य कर बैठते है कि जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना एक बात है और फल को न चाहना दूसरी बात। केवल चाहना न होने से ही किये कर्म का फल मिलने से रुक नही सकता सामग्री इकट्ठी हो गई, फिर कार्य आप ही आप होने लगता है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य धूप मे खडा है, गर्म चीज खाता है और चाहता है कि प्यास न लगे, सो क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है ? ईश्वर कर्तृत्व-वादी कहते है कि ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म अपना अपना फल प्राणियो पर प्रकट करते हैं। इस पर कर्म-वादी कहते है कि कर्म करने के समय परिणामानुसार जीव मे ऐसे सस्कार पड जाते है कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म के फल को आप ही भोगते हैं और कर्म उन पर अपने फल को आप ही प्रकट करते है।

तीसरे आपेक्ष का समाधान—ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन, फिर उनमे अन्तर ही क्या है ? हा अन्तर इतना हो सकता है कि जीव की सभी शक्तिया आवरणो से घिरी हुई है और ईश्वर की नही। पर जिस समय जीव अपने आवरणो को हटा देता है, उस समय तो उसकी सभी शक्तिया पूर्ण रूप मे प्रकाशित हो जाती है। फिर जीव और ईश्वर मे विपमता किस बात की ? विपमता का कारण जो औपाधिक कर्म है, उसके हट जाने पर भी यदि विपमता बनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है ? विपमता का राज्य ससार तक ही परिमित है, आगे

नही । इसलिये कर्मवाद के अनुसार यह मानने मे कोई आपत्ति नही कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं । केवल विश्वास के बल पर यह कहना कि ईश्वर एक ही होना चाहिये, उचित नही । सभी आत्मा तात्विक दृष्टि से ईश्वर ही है । केवल बन्धन के कारण वे छोटे-मोटे जीव रूप मे देखे जाते हैं, यह सिद्धात सभी को अपना ईश्वरत्व प्रकट करने के लिये पूर्ण वल देता है ।

व्यवहार और परमार्थ में कर्मवाद की उपयोगिता

इस लोक से या परलोक से सम्बन्ध रखने वाले किसी काम मे जब मनुष्य प्रवृत्ति करता है तब यह तो असम्भव ही है कि उसे किसी न किसी विघ्न का सामना करना न पडे । सब कामो मे सबको थोडे बहुत प्रमाण मे शारीरिक या मानसिक विघ्न आते ही हैं । ऐसी दशा मे देखा जाता है कि वहुत लोग चचल हो जाते है । घबडाकर दूसरो को दूषित ठहराकर उन्हे कोसते हैं । इस तरह विपत्ति के समय एक तरफ बाहरी दुश्मन बढ जाते है, दूसरी तरफ बुद्धि अस्थिर होने से अपनी भूल दिखाई नही देती । अन्त मे मनुष्य व्यग्रता के कारण अपने आरम्भ किये हुये सब कामो को छोड बैठता है और प्रयत्न तथा शक्ति के साथ न्याय का भी गला घोटता है । इसलिये उस समय उस मनुष्य के लिये एक ऐसे गुरु की आवश्यकता है जो उसके बुद्धि-नेत्र को स्थिर कर उसे यह देखने मे मदद पहुचाये कि उपस्थित विघ्न का असली कारण क्या है ? जहा तक बुद्धिमानो ने विचार किया है यही पता चला है कि ऐसा गुरु, कर्म का सिद्धान्त ही है । मनुष्य को यह विश्वास करना चाहिये कि चाहे मैं जान सकू या नही, लेकिन मेरे विघ्न का भीतरी व असली कारण मुझमे ही होना चाहिये ।

जिस हृदय-भूमिका पर विघ्न विष-वृक्ष उगता है, उसका बीज भी उसी भूमिका मे बोया हुआ होना चाहिये। पवन, पानी आदि बाहरी निमित्तो के समान उस विघ्न-विष वृक्ष को अकुरित होने मे कदाचित् अन्य कोई व्यक्ति निमित्त हो सकता है, पर वह विघ्न का बीज नही—ऐसा विश्वास मनुष्य के बुद्धि नेत्र को स्थिर कर देता है। जिससे वह अडचन के असली कारण को अपने मे देख, न तो उसके लिये दूसरे को कोसता है और न घबडाता है। ऐसे विश्वास से मनुष्य के हृदय मे इतना बल प्रकट होता है कि जिससे साधारण सकट के समय विक्षिप्त होने वाला वह बडी विपत्तियो को कुछ नही समझता और अपने व्यावहारिक या पारमार्थिक काम को पूरा ही कर डालता है।

मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिये परिपूर्ण हार्दिक शान्ति प्राप्त करनी चाहिये, जो एक मात्र कर्म के सिद्धात से ही हो सकती है। आधी और तूफान मे जैसे हिमालय का शिखर स्थिर रहता है, वैसे ही अनेक प्रतिकूलताओ के समय शान्त भाव मे स्थिर रहना, यही सच्चा मनुष्यत्व है, जो कि भूतकाल के अनुभवो से शिक्षा देकर मनुष्य को अपनी भावी भलाई के लिये तैयार करता है। परन्तु यह निश्चित है कि ऐसा मनुष्यत्व कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास किये विना कभी आ नही सकता। इससे यही कहना पडता है कि क्या व्यवहार, क्या परमार्थ, सब जगह कर्म का सिद्धान्त एक-सा उपयोगी है। कर्म के सिद्धान्त की श्रेष्ठता के सम्बन्ध मे डा० मेक्समूलर का जो विचार है, वह जानने योग्य है। वे कहते है—

"यह तो निश्चित है कि कर्म मत का असर मनुष्य-जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पडे कि

वर्तमान अपराध के बिना भी मुझको जो कुछ भोगना पडता है वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा। और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता हैं तथा उसी से भविष्यत् के लिये नीति की समृध्दि इकट्ठी की जा सकती है जो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नही होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थ शास्त्र का बल-सरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है। दोनो मतो का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नही होता। किसी भी नीति शिक्षा के अस्तित्व के सबध मे कितनी ही शङ्का क्यो न हो, पर यह निर्विवाद सिध्द है कि कर्ममत सबसे अधिक जगह माना गया है, उससे लाखो मनुष्यो के कष्ट कम हुये है और उसी मत से मनुष्यो को वर्तमान सकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्यत् जीवन-को सुधार ने मे उत्तेजन मिला है।"

कर्मवाद के समुत्थान का काल और उसका साध्य

कर्मवाद के विषय मे दो प्रश्न उठते हैं—१ कर्म-वाद का आविर्भाव कब हुआ ? २ वह क्यो ? पहले प्रश्न का उत्तर दो दृष्टिओं से दिया जा सकता है। १ परम्परा और २. ऐतिहासिक दृष्टि से —

१—परम्परा के अनुसार यह कहा जाता है कि जैन धर्म और कर्मवाद का आपस में सूर्य और किरण का सा मेल है। किसी समय, किसी देश विशेष मे जैन धर्म का अभाव भले ही देख पडे, लेकिन उसका अभाव सब जगह एक साथ कभी

नही होता। अतएव सिद्ध है कि कर्मवाद भी प्रवाह-रूप से जैन धर्म के साथ साथ अनादि है, अर्थात् वह अभूतपूर्व नही है।

२—परन्तु जैनेतर जिज्ञासु और इतिहास-प्रेमी जैन, उक्त परम्परा को बिना ननुनच किये मानने के लिये तैयार नही। साथ ही वे लोग ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर दिये गये उत्तर को मान लेने मे तनिक भी नही सकुचाते। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि इस समय जो जैन धर्म श्वेताम्बर या दिगम्बर शाखारूप से वर्तमान है, इस समय जितना जैन-तत्त्व-ज्ञान है और जो विशिष्ट परम्परा है, वह सब भगवान् महावीर के विचार का चित्र है। समय के प्रभाव से मूल वस्तु मे कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है, तथापि धारणशील और रक्षण-शील जैन समाज के लिए इतना नि सकोच कहा जा सकता है कि उसने तत्त्व-ज्ञान के प्रदेश मे भगवान् महावीर के उपदिष्ट तत्त्वो मे न तो अधिक गवेषणा की है और न ऐसा सम्भव ही था। परिस्थिति के बदल जाने से चाहे शास्त्रीय भाषा और प्रतिपादन शैली, मूल प्रवर्तक की भाषा और शैली से कुछ बदल गई हो, परन्तु इतना सुनिश्चित है कि मूल तत्त्वो मे और तत्त्व-व्यवस्था मे कुछ भी अन्तर नही पडा। अतएव जैन-शास्त्र के नयवाद, निक्षेपवाद, स्याद्वाद आदि अन्य वादो के समान कर्मवाद का आविर्भाव भी भगवान् महावीर से हुआ है, यह मानने मे किसी प्रकार की आपत्ति नही की जा सकती। वर्तमान जैन-आगम, किस समय और किसने रचे, यह प्रश्न ऐतिहासिको की दृष्टि से भले ही विवादास्पद हो, लेकिन उनको भी इतना तो अवश्य मान्य है कि वर्तमान जैन-आगम के सभी विशिष्ट और मुख्यवाद, भगवान् महावीर के विचार की विभूति है। कर्मवाद, यह जैनो का असाधारण व

मुख्यवाद है, इसलिये उसके भगवान् - महावीर से आविर्भूत होने के विषय मे किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता। भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त हुए २४९९ वर्ष बीते। अतएव वर्तमान कर्मवाद के विषय मे यह कहना कि इसे उत्पन्न हुए ढाई हजार वर्ष हुए, सर्वथा प्रामाणिक है। भगवान् महावीर के शासन के साथ कर्मवाद का ऐसा सम्बन्ध है कि यदि वह उससे अलग कर दिया जाय तो उस शासन मे शासनत्व (विशेषत्व) ही नही रहता, इस बात को जैन धर्म-का सूक्ष्म अवलोकन करने वाले सभी ऐतिहासिक भली-भाति जानते हैं।

इस जगह यह कहा जा सकता है कि 'भगवान् महावीर-के समान, उनसे पूर्व, भगवान् पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि हो गये हैं। वे भी जैन धर्म के स्वतन्त्र प्रवर्तक थे, और सभी ऐति-हासिक उन्हे जैन धर्म के धुरन्धर नायकरूप से स्वीकार भी करते है। फिर कर्मवाद के आविर्भाव के समय को उक्त समय-प्रमाण से वढाने मे क्या आपत्ति है ?' परन्तु इस पर कहना यह है कि कर्मवाद के उत्थान के समय के विषय मे जो कुछ कहा जाय वह ऐसा हो कि जिसके मानने मे किसी को किसी प्रकार की आनाकानी न हो। यह बात भूलनी न चाहिए कि भगवान् नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ आदि जैन धर्म के मुख्य प्रवर्तक हुए और उन्होने जैन शासन को प्रवर्तित भी किया, परन्तु वर्तमान जैन-आगम, जिन पर इस समय जैन शासन अवलम्वित है, वे उनके उपदेश की सम्पत्ति नही। इसलिए कर्मवाद के समुत्थान का ऊपर जो समय दिया गया है, उसे अशकनीय समझना चाहिए।

दूसरा प्रश्न यह है कि कर्मवाद का आविर्भाव किस प्रयोजन से हुआ ? इसके उत्तर मे तीन प्रयोजन मुख्यतया

बतलाये जा सकते है —१ वैदिक धर्म की ईश्वर-सम्बन्धिनी मान्यता मे जितना अश भ्रान्त था, उसे दूर करना। २ बौद्ध-धर्म के एकान्त क्षणिकवाद को अयुक्त बतलाना। ३ आत्मा को जड तत्त्वो से भिन्न—स्वतत्र तत्त्व स्थापित करना।

इसके विशेष खुलासे के लिए यह जानना चाहिये कि आर्यावर्त्त मे भगवान् महावीर के समय कौन कौन धर्म थे और उनका मन्तव्य क्या था ?

१ इतिहास बतलाता है कि उस समय भारत वर्ष मे जैन के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध दो ही धर्म मुख्य थे, परन्तु दोनो के सिद्धान्त मुख्य-मुख्य विषयो मे बिलकुल जुदे थे। मूल * वेदो मे, उपनिषदो * मे, स्मृतियो * मे और वेदानुयायी कतिपय दर्शनो मे ईश्वर विषयक ऐसी कल्पना थी कि जिससे सर्व साधारण का यह विश्वास हो गया था कि जगत् का उत्पादक ईश्वर ही है, वही अच्छे या बुरे कर्मो का फल जीवो से

* सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिव च पृथिवी चान्तरिक्षमथो स्व ॥—ऋ म १०, सू १९ म ३

* यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति ।—तैति. ३-१

* आसीदिद तमोऽभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेय प्रसुप्तमिव सर्वत ॥ १-५ ॥
ततस्स्वयभूर्भगवानऽव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादिवृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुद ॥ १-६ ॥
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधा प्रजा ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ १-८ ॥
तदण्डमभवद्धैम सहस्राशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वय ब्रह्मा सर्वलोकपितामह ॥१-९॥—मनुस्मृति

भोगवाता है, कर्म जड़ होने से ईश्वर की प्रेरणा के बिना अपना फल भोगवा नही सकते, चाहे कितनी ही उच्च कोटि का जीव हो, परन्तु वह अपना विकास करके ईश्वर हो नही सकता, अन्त मे जीव, जीव ही है, ईश्वर नही और ईश्वर के अनुग्रह के सिवाय ससार से निस्तार भी नही हो सकता, इत्यादि ।

इस प्रकार के विश्वास मे भगवान् महावीर को तीन भूले जान पडी —(अ) कृतकृत्य ईश्वर का बिना प्रयोजन सृष्टि मे हस्तक्षेप करना, (ब) आत्मस्वातन्त्र्य का दब जाना और (द) कर्म की शक्ति का अज्ञान ।

इन भूलो को दूर करने के लिए व यथार्थ वस्तुस्थिति जानने के लिए भगवान् महावीर ने बडी शान्ति व गम्भीरता पूर्वक कर्मवाद का उपदेश दिया ।

२—यद्यपि उस समय बौद्ध धर्म भी प्रचलित था, परन्तु उसमे जैसे ईश्वर कर्तृत्व का निषेध न था वैसे स्वीकार भी न था। इस विषय मे बुद्ध एक प्रकार से उदासीन थे। उनका उद्देश्य मुख्यतया हिंसा को रोक, समभाव फैलाने का था ।

उनकी तत्त्व-प्रतिपादन सरणी भी तत्कालीन उस उद्देश्य के अनुरूप ही थी। बुद्ध भगवान् स्वय, * कर्म और उसका * विपाक मानते थे, लेकिन उनके सिद्धान्त मे क्षणिकवाद को स्थान था। इसलिये भगवान् महावीर के कर्मवाद के उपदेश

* कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा ।
कम्मनिबधना सत्ता रथस्साणीव यायतो ॥—सुत्तनिपात, वासेठसुत्त, ६१

* यं कम्म करिस्सामि कल्याण वा पापक वा तस्स दायादो भविस्सामि ।
—अगुत्तर-निकाय ।

का एक यह भी गूढ साध्य था कि "यदि आत्मा को क्षणिक मात्र मान लिया जाय तो कर्म-विपाक की किसी तरह उपपत्ति हो नही सकती। स्वकृत कर्म का भोग और परकृत कर्म के भोग का अभाव तभी घट सकता है, जब कि आत्मा को न तो एकान्त नित्य माना जाय और न एकान्त क्षणिक।"

३—आज कल की तरह उस समय भी भूतात्मवादी मौजूद थे। वे भौतिक देह नष्ट होने के वाद कृतकर्म-भोगी पुनर्जन्मवान् किसी स्थायी तत्त्व को नही मानते थे। यह दृष्टि भगवान् महावीर की वहुत सकुचित जान पडी। इसी से उसका निराकरण उन्होने कर्मवाद द्वारा किया।

कर्मशास्त्र का परिचय

यद्यपि वैदिक साहित्य तथा वौद्ध साहित्य मे कर्म सम्वन्धी विचार है, पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई खास ग्रन्थ उस साहित्य मे दृष्टिगोचर नही होता। इसके विपरीत जैनदर्शन मे कर्म-सम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अति-विस्तृत है। अतएव उन विचारों का प्रतिपादक शास्त्र, जिसे 'कर्मशास्त्र' या 'कर्म-विपयक साहित्य' कहते हैं, उसने जैन-साहित्य के वहुत वडे भाग को रोक रक्खा है। कर्म-शास्त्र को जैन-साहित्य का हृदय कहना चाहिये। यो तो अन्य विपयक जैन-ग्रन्थो मे भी कर्म की थोडी वहुत चर्चा पाई जाती है, पर उसके स्वतन्त्र ग्रन्थ भी अनेक है। भगवान् महावीर ने कर्म-वाद का उपदेश दिया। उसकी परम्परा अभी तक चली आती है, लेकिन सम्प्रदाय भेद, संकलना और भाषा की दृष्टि से उसमे कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है।

१. सम्प्रदाय-भेद—भगवान् महावीर का शासन, श्वेता-

म्बर दिगम्बर दो शाखाओ मे विभक्त हुआ। उस समय कर्म-शास्त्र भी विभाजित-सा हो गया। सम्प्रदाय भेद की नीव, ऐसे वज्र-लेप भेद पर पडी है कि जिससे अपने पितामह भगवान् महावीर के उपदिष्ट कर्म-तत्त्व पर, मिलकर विचार करने-का पुण्य अवसर, दोनो सम्प्रदाय के विद्वानो को कभी प्राप्त नही हुआ। इसका फल यह हुआ कि मूल विषय मे कुछ मतभेद न होने पर भी कुछ पारिभाषिक शब्दो मे, उनकी व्याख्याओ मे और कही कहो तात्पर्य मे थोडा वहुत भेद हो गया, जिसका कुछ नमूना पाठक परिशिष्ट मे देख सकेगे —

२. सकलना—भगवान् महावीर से अव तक मे कर्म-शास्त्र की जो उत्तरोत्तर सकलना होती आई है, उसके स्थूल दृष्टि से तीन विभाग वतलाये जा सकते हैं।

(क) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र—यह भाग सवमे वडा और सवसे पहला है। क्योकि इसका अस्तित्व तव तक माना जाता है, जव तक कि पुर्व-विद्या विच्छिन्न नही हुई थी। भगवान् महावीर के वाद करीव ९०० या १००० वर्ष तक क्रम ह्रास-रूप से पूर्व विद्या वर्तमान रही। चौदह मे मे आठवा पूर्व, जिसका नाम 'कर्मप्रवाद' है वह तो मुख्यतया कर्म-विषयक ही था, परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा पूर्व, जिसका नाम 'अग्रायणीय' है, उसमे भी कर्म तत्त्व के विचार का एक 'कर्मप्राभृत' नामक भाग था। इस समय श्वेताम्बर या दिगम्बर के साहित्य मे पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का मूल अश वर्तमान नही है।

(ख) पूर्व से उद्धृत यानी आकाररूप कर्मशास्त्र—यह विभाग, पहले विभाग से वहुत छोटा है, तथापि वर्तमान अभ्यासियो के लिये वह इतना वडा है कि उसे आकार कर्म-शास्त्र कहना पडता है। यह भाग साक्षात् पूर्व से उद्धृत है,

ऐसा उल्लेख श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनो के ग्रन्थो मे पाया जाता है। पूर्व मे से उद्धृत किये गये कर्मशास्त्र का अश, दोनो सम्प्रदाय मे अभी वर्तमान है। उद्धार के समय सम्प्रदाय भेद रूढ हो जाने के कारण उद्धृत अश, दोनो सम्प्रदायो मे कुछ भिन्न-भिन्न नाम से प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे १ कर्म प्रकृति, २ शतक, ३ पचसग्रह और ४ सप्ततिका, ये चार ग्रन्थ और दिगम्बर सम्प्रदाय मे १ महाकर्मप्रकृतिप्राभृत तथा २ कषायप्राभृत, ये दो ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते है।

(ग) प्राकरणिक कर्मशास्त्र—यह विभाग, तीसरी सकलना का फल है। इसमे कर्म-विषयक छोटे-बडे अनेक प्रकरण ग्रन्थ सम्मिलित है। इन्ही प्रकरण ग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन इस समय विशेषतया प्रचलित है। इन प्रकरणो के पढने के बाद मेधावी अभ्यासी 'आकार ग्रन्थो' को पढते है। 'आकार ग्रन्थो' मे प्रवेश करने के लिए पहले प्राकरणिक कर्मशास्त्र का अवलोकन करना जरूरी है। यह प्राकरणिक कर्मशास्त्र का विभाग, विक्रम की आठवी-नववी शताब्दी से लेकर सोलहवी-सत्रहवी शताब्दी तक मे निर्मित व पल्लवित हुआ है।

३. भाषा—भाषा-दृष्टि से कर्मशास्त्र को तीन हिस्सो मे विभाजित कर सकते है। क–प्राकृत भाषा मे, ख–सस्कृत भाषा मे और ग–प्रचलित प्रादेशिक भाषा मे।

(क) प्राकृत—पूर्वात्मक और पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र इसी भाषा मे बने है। प्राकरणिक कर्मशास्त्र का भी बहुत बडा भाग प्राकृत भाषा मे ही रचा हुआ मिलता है। मूल ग्रन्थो के अतिरिक्त उनके ऊपर टीका-टिप्पणी भी प्राकृत भाषा मे है।

(ख) संस्कृत—पुराने समय मे जो कर्मशास्त्र बना है वह सब प्राकृत मे ही है, किन्तु पीछे से सस्कृत भाषा मे भी कर्म-

शास्त्र की रचना होने लगी। वहुत कर सस्कृत भाषा मे कर्म-शास्त्र पर टीका-टिप्पणी आदि ही लिखे गये है, पर कुछ मूल प्राकरणिक कर्मशास्त्र दोनो सम्प्रदायो मे ऐसे भी है, जो सस्कृत भाषा मे रचे हुए हैं।

(ग) प्रचलित प्रादेशिक भाषाएं—इनमे मुख्यतया कर्णाटकी, गुजराती और हिन्दी, तीन भाषाओ का समावेश है। इन भाषाओ मे मौलिक ग्रन्थ नाम मात्र के हैं। इनका उपयोग, मुख्यतया मूल तथा टीका के अनुवाद करने मे ही किया गया है। विशेषकर इन प्रादेशिक भाषाओ मे वही टीका-टिप्पण आदि है, जो प्राकरणिक कर्मशास्त्र-विभाग पर लिखे हुए है। कर्णाटकी और हिन्दी भाषा का आश्रय दिगम्वर साहित्य ने लिया है और गुजराती भाषा, श्वेताम्वरीय साहित्य मे उपयुक्त हुई है।

कर्मशास्त्र में शरीर, भाषा इन्द्रियादि पर विचार

शरीर जिन तत्त्वो से वनता है वे तत्त्व, शरीर के सूक्ष्म स्थूल आदि प्रकार, उसकी रचना, उसका वृद्धि-क्रम, ह्रास-क्रम आदि अनेक अशो को लेकर शरीर का विचार, शरीर-शास्त्र मे किया जाता है। इसी से उस शास्त्र का वास्तविक गौरव है। वह गौरव कर्मशास्त्र को भी प्राप्त है। क्योकि उनमे भी प्रसगवश ऐसी अनेक वातो का वर्णन किया गया है, जो कि शरीर से सम्वन्ध रखती है। शरीर-सम्वन्धिनी ये वातें पुरातन पद्धति से कही हुई है सही, परन्तु इससे उनका महत्त्व कम नही। क्योकि सभी वर्णन सदा नये नही रहते। आज जो विपय नया दिखाई देता है, वही थोडे दिनो के वाद पुराना हो जायगा। वस्तुत काल के वीतने से किसी मे पुरानापन नही

आता। पुरानापन आता है उसका विचार न करने से। सामयिक पद्धति से विचार करने पर पुरातन शोधो मे भी नवीनता-सी आ जाती है। इसलिए अतिपुरातन कर्मशास्त्र मे भी शरीर की बनावट, उसके प्रकार, उसकी मजबूती और उसके कारण भूत तत्त्वो पर जो कुछ थोडे बहुत विचार पाये जाते है, वह उस शास्त्र की यथार्थ महत्ता का चिह्न है।

इसी प्रकार कर्म शास्त्र मे भापा के सम्बन्ध मे तथा इन्द्रियो के सबध मे भी मनोरजक व विचारणीय चर्चा मिलती है। भापा किस तत्त्व से बनती है? उसके बनने मे कितना समय लगता है? उसकी रचना के लिये अपनी वीर्य्य-शक्ति का प्रयोग आत्मा किस तरह और किस साधन के द्वारा करता है? भापा की सत्यता-असत्यता का आधार क्या है? कौन-कौन प्राणी भापा बोल सकते है? किस किस जाति के प्राणी मे, किस किस प्रकार की भापा बोलने की शक्ति है? इत्यादि अनेक प्रश्न, भापा से सम्बन्ध रखते है। उनका महत्त्वपूर्ण व गम्भीर विचार, कर्म शास्त्र मे विशद रीति से किया हुआ मिलता है।

इसी प्रकार इन्द्रिया कितनी हैं। कैसी है? उनके कैसे कैसे भेद तथा कैसी कैसी शक्तिया है? किस किस प्राणी को कितनी कितनी इन्द्रिया प्राप्त है? बाह्य और आभ्यन्तरिक इन्द्रियो का आपस मे क्या सम्बन्ध है? उनका कैसा-कैसा आकार है? इत्यादि अनेक प्रकार के इन्द्रियो से सम्बन्ध रखने वाले विचार, कर्मशास्त्र मे पाये जाते है।

यह ठीक है कि ये सब विचार उसमे सकलना-बद्ध नही मिलते, परन्तु ध्यान मे रहे कि उस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य अश और ही है। उसी के वर्णन मे शरीर, भापा, इन्द्रिय आदि का विचार प्रसगवश करना पडता है। इसलिए जैसी सकलना

चाहिये वैसी न भी हो, तथापि इससे कर्मशास्त्र की कुछ त्रुटि सिद्ध नही होती, वल्कि उसकी तो अनेक शास्त्रो के विषयो की चर्चा करने का गौरव ही प्राप्त है।

कर्मशास्त्र का अध्यात्मशास्त्रपन

अध्यात्म-शास्त्र का उद्देश्य, आत्मा-सम्वन्धी विषयो पर विचार करना है। अतएव उसके आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने के पहले उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी कथन करना पडता है। ऐसा न करने से यह प्रश्न सहज मे ही उठता है कि मनुष्य, पशु-पक्षी, सुखी-दु खी आदि आत्मा की दृश्यमान अवस्थाओ का स्वरूप, ठीक ठीक जाने विना उसके पार का स्वरूप जानने की योग्यता, दृष्टि को कैसे प्राप्त हो सकती है ? इसके सिवाय यह भी प्रश्न होता है कि दृश्यमान वर्तमान अवस्थायें ही आत्मा का स्वभाव क्यो नही है। इसलिये अध्यात्म-शास्त्र को आवश्यक है कि वह पहले, आत्मा के दृश्यमान स्वरूप की उपपत्ति दिखाकर आगे वढे। यही काम कर्मशास्त्र ने किया है। वह दृश्यमान सव अवस्थाओ को कर्म-जन्य वतला कर उनसे आत्मा के स्वभाव की जुदाई की सूचना करता है। इस दृष्टि से कर्मशास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र का ही एक अश है। यदि अध्यात्म-शास्त्र का उद्देश्य, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करना ही माना जाय तव भी कर्म शास्त्र को उसका प्रथम सोपान मानना ही पडता है। इसका कारण यह है कि जव तक अनुभव मे आने वाली वर्तमान अवस्थाओ के साथ आत्मा के सम्वन्ध का सच्चा खुलासा न हो तव तक दृष्टि, आगे कैसे वढ सकती है ? जव यह ज्ञात हो जाता है कि ऊपर के सव रूप, मायिक या वैभाविक हैं तव स्वयमेव

जिज्ञासा होती है कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है? उसी समय आत्मा के केवल शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन सार्थक होता है। परमात्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध दिखाना यह भी आध्यात्मशास्त्र का विषय है। इस सम्बन्ध मे उपनिषदो मे या गीता मे जैसे विचार पाये जाते है वैसे ही कर्मशास्त्र मे भी। कर्मशास्त्र कहता है कि आत्मा वही परमात्मा-जीव ही ईश्वर है। आत्मा का परमात्मा मे मिल जाना, इसका मतलब यह है कि आत्मा का अपने कर्मावृत परमात्म भाव को व्यक्त करके परमात्म रूप हो जाना। जीव परमात्मा का अंश है, इसका मतलब कर्मशास्त्र की दृष्टि से यह है कि जीव मे जितनी ज्ञान-कला व्यक्त है, वह परिपूर्ण, परन्तु अव्यक्त (आवृत) चेतना-चन्द्रिका का एक अंश मात्र है। कर्म का आवरण हट जाने से चेतना परिपूर्ण रूप मे प्रकट होती है। उसी को ईश्वरभाव या ईश्वरत्व की प्राप्ति समझना चाहिये।

ढग से ही कर्म-शास्त्र ने अपने ऊपर ले रक्खा है। क्योकि वह अभेद-भ्रम से भेद ज्ञान की तरफ झुकाकर, फिर स्वभाविक अभेदध्यान की उच्च भूमिका की ओर आत्मा को खीचता है। बस उसका कर्तव्य-क्षेत्र उतना ही है। साथ ही योग-शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य अश का वर्णन भी उसमे मिल जाता है। इसलिये यह स्पष्ट है कि कर्म-शास्त्र, अनेक प्रकार के आध्यात्मिक शास्त्रीय विचारो की खान है। वही उसका महत्त्व है। बहुत लोगो को प्रकृतियो की गिनती, सख्या की बहुलता आदि से उस पर रुचि नही होती, परन्तु इसमें कर्मशास्त्र का क्या दोष ? गणित, पदार्थ विज्ञान आदि गूढ व रस-पूर्ण विषयो पर स्थूलदर्शी लोगो की दृष्टि नही जमती और उन्हे रस नही आता, इसमे उन विषयो का क्या दोष ? दोष है समझने वालो की बुद्धिका। किसी भी विषय के अभ्यासी को उस विषय मे रस तभी आता है जब कि वह उसमे तल-तक उतर जाय।

विषय-प्रवेश—कर्म-शास्त्र जानने की चाह रखने वालो को आवश्यक है कि वे 'कर्म' शब्द का अर्थ, भिन्न-भिन्न शास्त्रो मे प्रयोग किये गये उसके पर्याय शब्द, कर्म का स्वरूप, आदि निम्न विषयो से परिचित हो जाय तथा आत्म तत्त्व स्वतन्त्र तत्त्व है, यह भी जान ले।

कर्म शब्द के अर्थ—'कर्म' शब्द लोक-व्यवहार और शास्त्र दोनो मे प्रसिद्ध है। उसके अनेक अर्थ होते है। साधारण लोग अपने व्यवहार मे काम धधे या व्यवसाय के मतलब से 'कर्म' शब्द का प्रयोग करते हैं। शास्त्र मे उसकी एक गति नही है। खाना, पीना, चलना, कापना आदि किसी भी हल-चल के लिये, चाहे वह जीव की हो या जड की, कर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है।

कर्मकाण्डी मीमासक, यज्ञ, योग-आदि क्रिया-कलाप अर्थ मे, स्मार्त विद्वान्, ब्राह्मण आदि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि ४ आश्रमो के नियत कर्मरूप अर्थ मे, पौराणिक लोग, व्रत नियम आदि धार्मिक क्रियाओ के अर्थ मे, वैयाकरण लोग, कर्त्ता जिसको अपनी क्रिया के द्वारा पाना चाहता है उस अर्थ मे अर्थात् जिस पर कर्त्ता के व्यापार का फल गिरता है उस अर्थ मे, और नैयायिक लोग उत्क्षेपण आदि पाच साकेतिक कर्मों मे कर्म शब्द का व्यवहार करते हैं। परन्तु जैन शास्त्र मे कर्म शब्द से दो अर्थ लिये जाते है। पहला राग-द्वेषात्मक परिणाम, जिसे कषाय (भाव-कर्म) कहते है और दूसरा कार्मण जाति के पुद्गल विशेष, जो कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ चिपके हुये होते है और द्रव्यकर्म कहलाते है।

कर्म शब्द के कुछ पर्याय—जैन दर्शन मे जिस अर्थ के लिये कर्म शब्द प्रयुक्त होता है उस अर्थ के अथवा उससे कुछ मिलते जुलते अर्थ के लिये जैनेतर दर्शनो मे वे शब्द मिलते है—माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि।

माया, अविद्या, प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्त दर्शन मे पाये जाते हैं। इनका मूल अर्थ करीब-करीब वही है, जिसे जैन-दर्शन मे भाव कर्म कहते हैं। 'अपूर्व' शब्द मीमासी दर्शन मे मिलता है। 'वासना' शब्द बौद्ध दर्शन मे प्रसिद्ध है, परन्तु योग दर्शन मे भी उसका प्रयोग किया जाता है। 'आशय' शब्द विशेषकर योग तथा साख्य दर्शन मे मिलता है। धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार, इन शब्दो का प्रयोग और दर्शनो मे भी पाया जाता है, परन्तु विशेषकर न्याय तथा वैशेषिक दर्शन मे। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि कई ऐसे शब्द हैं, जो सब दर्शनो

द्वेष के सम्बन्ध से ही। राग की या द्वेष की मात्र बढी कि ज्ञान, विपरीत रूप मे वदलने लगा। इससे शब्द-भेद होने पर भी कर्मबन्ध के कारण के सम्बन्ध मे अन्य आस्तिक दर्शनो के साथ, जैन दर्शन का कोई मतभेद नही। नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शन मे मिथ्या ज्ञान को, योगदर्शन मे प्रकृति-पुरुष के अभेद ज्ञान को और वेदान्त आदि मे अविद्याको तथा जैन दर्शन मे मिथ्यात्व को कर्म का कारण वतलाया है, परन्तु यह वात ध्यान मे रखनी चाहिये किसी को भी कर्म का कारण क्यो न कहा जाय, पर यदि उसमे कर्म की वन्धकता (कर्म-लेप पैदा करने की शक्ति) है तो वह रागद्वेष के सम्वन्ध से ही। रागद्वेष की न्यूनता या अभाव होते ही अज्ञानपन (मिथ्यात्व) कम होता व नष्ट हो जाता है। महाभारत शान्ति पर्व के "कर्मणा वध्यते जन्तु." इस कथन मे भी कर्म शब्द का मतलव रागद्वेप से ही है।

कर्म से छूटने के उपाय—अब यह विचार करना जरूरी है कि कर्म पटल से आवृत अपने परमात्मभाव को जो प्रकट करना चाहते हैं, उनके लिये किन किन साधनो की अपेक्षा है।

जैन-शास्त्र मे परम पुरुषार्थ-मोक्ष पाने के तीन साधन वतलाये हुए हैं—सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र। कही-कही ज्ञान और क्रिया, दो को ही मोक्ष का साधन कहा है। ऐसे स्थल मे दर्शन को ज्ञान स्वरूप—ज्ञान का विशेप—समझकर उससे जुदा नही गिनते। परन्तु यह प्रश्न होता है कि वैदिक दर्शनो मे कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारो को मोक्ष-का साधन माना है फिर जैनदर्शन मे तीन या दो ही साधन क्यो कहे गये? इसका समाधान इस प्रकार है कि जैनदर्शन मे जिस सम्यक्चारित्र को सम्यक् क्रिया कहा है, उसमे कर्म और योग दोनो मार्गों का समावेश हो जाता है। क्योकि

चारित्र मे मनोनिग्रह, इन्द्रिय-जय, चित्त-शुद्धि, समभाव और उनके लिये किये जाने वाले उपायो का समावेश होता है। मनो-निग्रह, इन्द्रिय-जय आदि सात्विक यज्ञ ही कर्म मार्ग है और चित्त-शुद्धि तथा उसके लिये की जाने वाली सत्प्रवृत्ति ही योग मार्ग है। इस तरह कर्म मार्ग और योग मार्ग का मिश्रण ही (सम्यक्) चारित्र है। सम्यग्दर्शन ही भक्ति मार्ग है, क्योकि भक्ति मे श्रद्धा का अश प्रधान है और सम्यग्दर्शन भी श्रद्धा रूप ही है। सम्यग्ज्ञान ही ज्ञानमार्ग है। इस प्रकार जैनदर्शन मे बतलाये हुये मोक्ष के तीन साधन अन्य दर्शनो के सब साधनो का समुच्चय है।

आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व है—कर्म के सम्बन्ध मे ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसकी ठीक-ठीक सगति तभी हो सकती है, जब कि आत्मा को जड से अलग तत्त्व माना जाय। आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्वत्व इन सात प्रमाणो से माना जा सकता है— क—स्वसवेदन रूप साधक प्रमाण, ख—बाधक प्रमाण का अभाव, ग—निषेध से निषेध कर्त्ता की सिद्धि, घ—तर्क, ङ—शास्त्र व महात्माओ का प्रामाण्य, च—आधुनिक विद्वानो की सम्मति और छ—पुनर्जन्म।

क. स्वसवेदन रूप साधक प्रमाण—यद्यपि सभी देह-धारी अज्ञान के आवरण से न्यूनाधिक रूप मे घिरे हुए हैं और इससे वे अपने ही अस्तित्व का सन्देह करते है, तथापि जिस समय उनकी बुद्धि थोडी सी भी स्थिर हो जाती है उस समय उनको यह स्फुरणा होती है कि 'मैं हूँ'। यह स्फुरणा कभी नही होती कि 'मैं नही हूँ'। इससे उलटा यह भी निश्चय होता है कि 'मैं नही हूँ' यह बात नही। इसी बात को श्री शकराचार्य्य ने भी ब्रह्मसूत्र भाष्य १-१-१ मे कहा है—

"सर्वो ह्यात्माऽस्तित्व प्रत्येति, न नाहमस्मीति"

इसी निश्चय को स्वसवेदन आत्मनिश्चय कहते हैं ।

ख. बाधक प्रमाण का अभाव—ऐसा कोई प्रमाण नही है जो आत्मा के अस्तित्व का बाध (निषेध) करता हो । इस पर यद्यपि यह शका हो सकती है कि मन और इन्द्रियो के द्वारा आत्मा का ग्रहण न होना ही उसका बाध है। परन्तु इसका समाधान सहज है । किसी विषय का प्रमाण वही माना जाता है जो उस विषय को जानने की शक्ति रखता हो और अन्य सब सामग्री मोजूद होने पर उसे ग्रहण कर न सके । उदाहरणार्थ—आख, मिट्टी के घडे को देख सकती है, पर जिस समय प्रकाश, समीपता आदि सामग्री रहने पर भी वह मिट्टी के घडे को न देखे, उस समय उसे उस विषय की बाधक समझना चाहिये ।

इन्द्रिया सभी भौतिक है । उनकी ग्रहण शक्ति बहुत परिमित है । वे भौतिक पदार्थों मे से भी स्थूल, निकटवर्ती और नियत विषयो को ही ऊपर ऊपर से जान सकती है । सूक्ष्म-दर्शन यन्त्र आदि साधनो की वही दशा है । वे अभी तक भौतिक प्रदेश मे ही कार्यकारी सिद्ध हुये हैं । इसलिये उनका अभौतिक-अमूर्त्त-आत्मा को जान न सकना बाध नही कहा जा सकता मन, भौतिक होने पर भी इन्द्रियो की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् है सही, पर जब वह इन्द्रियो का दास बन जाता है—एक के पीछे एक, इस तरह अनेक विषयो मे बन्दर के समान दौड लगाता फिरता है-तब उसमे राजस व तामस वृत्तिया पैदा होती हैं । सात्विक भाव प्रकट होने नही पाता । यही बात गीता अ. २ श्लोक. ६७ मे भी कही हुई है :—

"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञा वायुर्नावमिवाम्भसि ॥"

इसलिये चचल मन मे आत्मा की स्फुरणा भी नही होती। यह देखी हुई बात है कि प्रतिविम्ब ग्रहण करने की शक्ति, जिस दर्पण मे वर्तमान है वह भी जब मलिन हो जाता है तब उसमे किसी वस्तु का प्रतिविम्ब व्यक्त नही होता। इससे यह बात सिद्ध है कि बाहरी विषयो मे दौड लगाने वाले अस्थिर मन से आत्मा का ग्रहण न होना उसका बाध नही, किन्तु मन की अशक्ति मात्र है।

इस प्रकार विचार करने से यह प्रमाणित होता है कि मन, इन्द्रिया, सूक्ष्मदर्शक यन्त्र आदि सभी साधन भौतिक होने से आत्मा का निषेध करने की शक्ति नही रखते।

ग निषेध से निषेध कर्त्ता की सिद्धि—कुछ लोग यह कहते हैं कि "हमे आत्मा का निश्चय नही होता, बल्कि कभी-कभी उसके अभाव की स्फुरणा हो आती है, क्यो कि किसी समय मन मे ऐसी कल्पना होने लगती है कि 'मैं नही हूँ'। इत्यादि" परन्तु जानना यह चाहिये कि उनकी यह कल्पना ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है। क्योकि यदि आत्मा ही न हो तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव कैसे ? जो निषेध कर रहा है वह स्वय ही आत्मा है। इस बात को श्री शकराचार्य्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य अ २ पा ३ अ १ सू ७ मे भी कहा हैं—"य एव ही निराकर्त्ता तदेव ही तस्य स्वरूपम्।"

घ तर्क—यह भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की पुष्टि करता है। वह कहता है कि जगत् मे सभी पदार्थों का विरोध कोई न कोई देखा जाता है। अन्धकार का **विरोधी** प्रकाश। उष्णता का विरोधी शीत्य। सुख का विरोधी **दुख**। इसी तरह जड पदार्थ का विरोधी भी कोई तत्त्व होना **चाहिये**। * जो तत्त्व जड का विरोधी है वही चेतन या आत्मा है।

इस पर यह तर्क किया जा सकता है कि 'जड, चेतन ये दो स्वतन्त्र विरोधी तत्त्व मानना उचित नही, परन्तु किसी एक ही प्रकार के मूल पदार्थ मे जडत्व व चेतनत्व दोनो शक्तिया मानना उचित है। जिस समय चेतनत्व शक्ति का विकास होने लगता है–उसकी व्यक्ति होती है–उस समय जडत्व शक्ति का तिरोभाव रहता है। सभी चेतन शक्ति वाले प्राणी जड पदार्थ के विकास के ही परिणाम हैं। वे जड के अतिरिक्त अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही रखते, किन्तु जड़त्व शक्ति का तिरोभाव होने से जीवधारी रूप मे दिखाई देते।' ऐसा ही मन्तव्य हेकल आदि अनेक पश्चिमीय विद्वानो का भी है। परन्तु उस प्रतिकूल तर्क का निवारण अशक्य नही है।

यह देखा जाता है कि किसी वस्तु मे जब एक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तब उसमे दूसरी विरोधिनी शक्ति का तिरोभाव हो जाता है। परन्तु जो शक्ति तिरोहित हो जाती है वह सदा के लिये नही, किसी समय अनुकूल निमित्त मिलने पर फिर भी उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार जो शक्ति प्रादुर्भूत हुई होती है वह भी सदा के लिए नही। प्रतिकूल निमित्त मिलते ही उसका तिरोभाव हो जाता है। उदाहरणार्थ पानी के अणुओ को लीजिये, वे गरमी पाते ही भाप रूप मे परिणत हो

• यह तर्क निर्मूल या अप्रमाण नही, बल्कि इस प्रकार का तर्क शुद्ध बुद्धि का चिन्ह है। भगवान् बुद्ध को भी अपने पूर्व जन्म में अर्थात् सुमेध नामक ब्राह्मण के जन्म में ऐसा ही तर्क हुआ था। "यथा हि लोके दुक्खस्स पटिपक्खभूत सुखं नाम अत्थि, एव भवे सति तप्पटिपक्खेन विभवेनापि भवितब्ब यथा च उण्हे सति तस्स वूपसमभूत सीतंपि अत्थि, एव रागादीन अग्गीनं वूपसमेन निब्बानेनापि भवितब्ब।"

जाते है, फिर शैत्य आदि निमित्त मिलते ही पानी रूप मे वरसते है और अधिक शीतत्व प्राप्त होने पर द्रवत्व रूप को छोड वर्फ-रूप मे घनत्व को प्राप्त कर लेते है।

इसी तरह यदि जडत्व-चेतनत्व दोनो शक्तियो को किसी एक मूल तत्त्वगत मान ले, तो विकासवाद ही न ठहर सकेगा। क्योकि चेतनत्व शक्ति के विकास कारण जो आज चेतन (प्राणी) समझे जाते है, वे ही सब जडत्व शक्ति का विकास होने पर फिर जड हो जायेंगे। जो पाषाण आदि पदार्थ आज जड रूप मे दिखाई देते है वे कभी चेतन हो जायेगे और चेतन रूप मे दिखाई देने वाले मनुष्य, पशु पक्षी आदि प्राणी कभी जड रूप भी हो जायेगे। अतएव एक-एक पदार्थ मे जडत्व चेतनत्व दोनो विरोधिनी शक्तियो को न मानकर जड़ चेतन दो स्वतन्त्र तत्त्वो को ही मानना ठीक है।

ङ. शास्त्र व महात्माओ का प्रामाण्य—अनेक पुरातन शास्त्र भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रदिपादन करते है। जिन शास्त्रकारो ने वडी शान्ति व गम्भीरता के साथ आत्मा के विषय मे खोज की है, उनके शास्त्र गत अनुभव को यदि हम विना ही अनुभव किये चपलता से यो ही हस दे तो, इसमे क्षुद्रता किस की ? आज कल भी अनेक महात्मा ऐसे देखे जाते है कि जिन्होने अपना जीवन पवित्रता पूर्वक आत्मा के विचार मे ही विताया। उनके शुद्ध अनुभव को हम यदि अपने भ्रान्त अनुभव के वल पर न माने तो इसमे न्यूनता हमारी ही है। पुरातन शास्त्र और वर्तमान अनुभवी महात्मा नि स्वार्थ भाव-से आत्मा के अस्तित्व को वतला रहे है।

च. आधुनिक वैज्ञानिको की सम्मति—आज कल लोग प्रत्येक विषय का खुलासा करने के लिये वहुधा वैज्ञानिक

विद्वानो का विचार जानना चाहते है। यह ठीक है कि अनेक पश्चिमीय भौतिक-विज्ञान-विशारद आत्मा को नही मानते या उसके विषय मे संदिग्ध है। परन्तु ऐसे भी अनेक धुरन्धर वैज्ञानिक है कि जिन्होने अपनी सारी आयु भौतिक खोज मे बिताई है, पर उनकी दृष्टि भूतो से परे आत्मतत्त्व की ओर भी पहुँची है। उनमे से सर ऑलीवर लॉज और लॉर्ड केलविन, इनका नाम वैज्ञानिक ससार मे मशहूर है। ये दोनो विद्वान् चेतन तत्त्व को जड से जुदा मानने के पक्ष मे हैं। उन्होने जड-वादियो की युक्तियो का खण्डन बडी सावधानी से व विचार-सरणी से किया हैं। उनका मन्तव्य है कि चेतन के स्वतन्त्र अस्तित्व के सिवाय जीवधारियो के देह की विलक्षण रचना किसी तरह बन नही सकती। वे अन्य भौतिकवादियो कि तरह मस्तिष्क को ज्ञान की जड नही समझते, किन्तु उसे ज्ञान के आविर्भाव का साधन मात्र समझते हैं। *

डा जगदीशचन्द्र वोस जिन्होने सारे वैज्ञानिक ससार मे नाम पाया है, उनकी खोज से यहा तक निश्चय हो गया है कि वनस्पतियो मे भी स्मरण-शक्ति विद्यमान है। वोस महाशय ने अपने आविष्कारो से स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व मानने के लिये वैज्ञा-निक ससार को विवश किया है।

७. पुनर्जन्म—अनेक प्रश्न ऐसे है कि जिनका पूरा समा-धान पुनर्जन्म माने विना नही होता। गर्भ के आरम्भ से लेकर जन्म तक बालक को जो जो कष्ट भोगने पडते हैं, वे सब उस बालक की कृति के परिणाम है या उसके माता पिता की कृति के? उन्हे बालक की इस जन्म की कृति का परिणाम नही कह सकते, क्योकि उसने गर्भावस्था मे तो अच्छा बुरा कुछ भी काम नही किया है। यदि माता-पिता की कृति का परिणाम

कहे तो भी असगत जान पडता है, क्योकि माता पिता अच्छा या बुरा कुछ भी करे, उसका परिणाम विना कारण बालक-को क्यो भोगना पडे ? बालक जो कुछ सुख दुःख भोगता है, वह यो ही विना कारण भोगता है, यह मानना तो अज्ञान की पराकाष्ठा है, क्योकि विना कारण किसी कार्य का होना असम्भव है। यदि यह कहा जाय कि माता-पिता के आहार विहार का, विचार-व्यवहार का और शरीरिक-मानसिक अव-स्थाओ का असर बालक पर गर्भावस्था से ही पड़ना शुरु होता है तो फिर भी सामने यह प्रश्न होता है कि बालक को ऐसे माता पिता-पिता का सयोग क्यो हुआ ? और इसका क्या समाधान है कि कभी-कभी बालक की योग्यता माता-पिता से विलकुल ही जुदा प्रकार की होती है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे जाते है कि माता-पिता विलकुल अपढ होते हैं और लडका पूरा शिक्षित बन जाता है। विशेष क्या ? यहा तक देखा जाता है कि किन्ही-किन्ही माता-पिताओ की रुचि, जिस बात पर विलकुल ही नही होती उसमे बालक सिद्धहस्त हो जाता है। इसका कारण केवल आस-पास की परिस्थिति ही नही मानी जा सकती, क्यो कि समान परिस्थिति और बराबर देख भाल होते हुये भी अनेक विद्यार्थियो मे विचार व व्यवहार की भिन्नता देखी जाती है। यदि कहा जाय कि यह परिणाम बालक के अद्भुत ज्ञानततुओ-का है, तो इस पर यह शका होती है कि बालक का देह माता-पिता के शुक्रशोणित से बना होता है, फिर उनमे अविद्यमान ऐसे

---

* इन दोनो चैतन्यवादियो के विचार की छाया, सवत् १९६१ के ज्येष्ठ मास के, १९६२ के मार्गशीर्ष मास के और १९६५ के भाद्रपद मास के 'वसन्त' पत्र मे प्रकाशित हुई है।

ज्ञानतंतु बालक के मस्तिष्क मे आये कहा से ? कही-कही माता-पिता कीसी ज्ञान शक्ति बालक मे देखी जाती है सही, पर इसमे भी प्रश्न है कि ऐसा सुयोग क्यो मिला ? किसी-किसी जगह यह भी देखा जाता है कि माता-पिता की योग्यता बहुत बढी-चढी होती है और उनके सौ प्रयत्न करने पर भी लडका गवार ही रह जाता है।

यह सबको विदित ही है कि एक साथ–युगलरूप से जन्मे हुये दो बालक भी समान नही होते। माता-पिता की देखभाल बराबर होने पर भी एक साधारण ही रहता है और दूसरा कही आगे बढ जाता है। एक का पिण्ड, रोग से नही छूटता और दूसरा बडे-बडे कुश्ती बाजो से हाथ मिलता है। एक दीर्घ जीवी बनता है और दूसरा सौ यत्न करने पर भी यम का अतिथि बन जाता है। एक की इच्छा सयत होती है और दूसरे–की असयत।

जो शक्ति, महावीर मे, बुद्ध मे, शङ्कराचार्य्य मे थी, वह माता पिताओ मे न थी। हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा के कारण उनके माता-पिता नही माने जा सकते। उनके गुरु भी उनकी प्रतिभा के मुख्य कारण नही, क्योकि देवचन्द्रसूरि के हेमचन्द्राचार्य के सिवाय और भी शिष्य थे, फिर क्या कारण है कि दूसरे शिष्यो-का नाम लोग जानने तक नही और हेमचन्द्राचार्य का नाम इतना प्रसिद्ध है ? श्रीमती एनी बिसेन्ट मे जो विशिष्ट शक्ति देखी जाती है, वह उनके माता पिताओ मे न थी, और न उनकी पुत्री मे भी। अच्छा, और भी कुछ प्रामाणिक उदाहरण सुनिये –

प्रकाश की खोज करने वाले डा. यंग दो वर्ष की उम्र मे पुस्तक को बहुत अच्छी तरह बाच सकते थे। चार वर्ष की उम्र मे वे दो दफे बाइबल पढ चुके थे। सात वर्ष की अवस्था मे उन्होंने

गणित शास्त्र पढना आरम्भ किया था और तेरहर वर्ष की अवस्था मे लेटिन, ग्रीक, हिब्रु, फ्रेच, इटालियन आदि भाषाए सीख ली थी। सर विलियम रोवन हेमिल्ट ने तीन वर्ष की उम्र मे हिब्रु भाषा सीखना आरम्भ किया और सात वर्ष की उम्र मे उस भाषा मे इतने निपुण हुये कि डब्लीन की ट्रीनिटी कालेज के एक फेलो को स्वीकार करना पडा कि कालेज के फेलो पद के प्राथियो मे भी उनके बराबर ज्ञान नही है और तेरह वर्ष की वय मे तो उन्होने कम से कम तेरह भाषा पर अधिकार जमा लिया था। ई स १८९२ मे जन्मी हुई एक लडकी ई १९०२ मे, दस वर्य की अवस्था मे एक नाटक मण्डल मे सम्मिलित हुई थी। उसने उस अवस्था मे कई नाटक लिखे थे। उसकी माता के कथनानुसार वह पाच वर्ष की वय मे कई छोटी-मोटी कविताए बना लेती थी। उसकी लिखी हुई कुछ कविताए महारानी विक्टोरिया के पास थी। उस समय उस बालिका का अग्रेजी ज्ञान भी आश्चर्यजनक था। वह कहती थी कि मै अग्रेजी पढी नही हूँ, परन्तु उसे जानती जरूर हूँ।

उक्त उदाहरणो पर ध्यान देने से यह स्पष्ट जान पडता है कि इस जन्म म देखी जाने वाली सब विलक्षणताए न तो वर्तमान जन्म की कृतिका ही परिणाम है, न माता पिता के केवल सस्कार का हो, और न केवल परिस्थिति का ही। इसलिये आत्मा के अस्तित्व की मर्यादा को गर्भ के आरम्भ से और भी पूर्व मानना चाहिये। वही पूर्व जन्म है। पूर्व जन्म मे इच्छा या प्रवृत्ति द्वारा जो सस्कार सचित हुये हो, उन्ही के आधार पर उपर्युक्त शङ्काओ का तथा विलणताओ का सुसंगत समाधान हो जाता है। जिस युक्ति से एक पूर्व जन्म सिद्ध हुआ, उसी के बल से अनेक पूर्व जन्म की परम्परा सिद्ध हो जाती है। क्योकि

अपरिमित ज्ञान-शक्ति एक जन्म के अभ्यास का फल नही हो सकता। इस प्रकार आत्मा, देह से जुदा अनादि सिद्ध होता है। अनादि तत्त्व का कभी नाश नही होता, इस सिद्धात को सभी दार्शनिक मानते हैं। गीता मे भी कहा है—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।" २–२६

इतना ही नही, वल्कि वर्तमान शरीर के बाद आत्मा का अस्तित्व माने विना अनेक प्रश्न हल ही नही हो सकते।

वहुत लोग ऐसे देखे जाते हैं कि वे इस जन्म मे तो प्रामाणिक जीवन विताते हैं, परन्तु रहते हैं दरिद्री। और ऐसे भी देखे जाते हैं कि जो न्याय, नीति और धर्म का नाम सुनकर चिढते हैं, परन्तु होते हैं वे सव तरह से सुखी। ऐसी अनेक व्यक्तिय मिल सकते हैं, जो है तो स्वय दोषी, और उनके दोषो का-अपराधो का—फल भोग रहे हैं दूसरे,। एक हत्या करता है और दूसरा पकडा जाकर फासी पर लटकाया जाता है। एक करता है चोरी और पकडा जाता है दूसरा। अव इस पर विचार करना चाहिये कि जिनको अपनी अच्छी या बुरी कृति का वदला इस जन्म मे नही मिला, उनकी कृति क्या यो ही विफल हो जायगी? यह कहना कि कृति विफल नही होती, यदि कर्त्ता को फल नही मिला तो भी उसका असर समाज के या देश के अन्य लोगो पर होता ही है, सो भी ठीक नही। क्योकि मनुष्य जो कुछ करता है वह सव दूसरी के लिये ही नही। रात-दिन परोपकार करने मे निरत महात्माओ की भी इच्छा, दूसरो की भलाई करने के निमित्त से अपना परमात्मत्व प्रकट करने की ही रहती है। विश्व की व्यवस्था में इच्छा का बहुत ऊचा स्थान है। ऐसी दशा मे वर्तमान देह के साथ इच्छा के मूल का भी नाश मान लेना युक्तिसगत नही। मनुष्य अपने

जीवन की आखिरी घडी तक ऐसी ही कोशिश करता रहता है, जिससे कि अपना भला हो। यह नही कि ऐसा करने वाले सब भ्रान्त ही होते है। बहुत आगे पहुचे हुये स्थिरचित्त व शान्त प्रज्ञावान् योगी भी इसी विचार से अपने साधन को सिद्ध करने की चेष्टा मे लगे रहते है कि इस जन्म मे नही तो दूसरे मे ही सही, किसी समय हम परमात्मभाव को प्रकट कर ही लेगे। इसके सिवाय सभी के चित्त मे यह स्फुरणा हुआ करती है कि मैं बराबर कायम रहूँगा। शरीर, नष्ट होने के बाद चेतन का अस्तित्व यदि न माना जाय तो व्यक्ति का उद्देश्य कितना संकुचित बन जाता है और कार्य क्षेत्र भी कितना अल्प रह जाता है ? औरो के लिये जो कुछ किया जाय परन्तु वह अपने लिये किये जाने वाले कामो के बराबर हो नही सकता। चेतन की उत्तर मर्यादा को वर्तमान देह के अन्तिम क्षण तक मान लेने से व्यक्ति को महत्वाकाक्षा एक तरह से छोड देनी पडती है। इस जन्म मे नही तो अगले जन्म मे सही, परन्तु मै अपना उद्देश्य अवश्य सिद्ध करू गा, यह भावना मनुष्य के हृदय मे जितना बल प्रकटा सकती है, उतना बल अन्य कोई भावना नही प्रकटा सकती। यह भी नही कहा जा सकता कि उक्त भावना मिथ्या है, क्योकि उसका आविर्भाव नैसर्गिक और सर्वविदित है। विकासवाद भले ही भौतिक रचनाओ को देखकर जड तत्त्वो-पर खडा किया गया हो, पर उसका विषय चेतन भी बन सकता है। इन सब बातो पर ध्यान देने से यह माने बिना सतोष नही होता कि चेतन एक स्वतन्त्र तत्त्व है। वह जानते या अनजानते जो अच्छा बुरा कर्म करता है, उसका फल उसे भोगना ही पडता है और इसलिये उसे पुनर्जन्म के चक्कर मे घूमना पडता है। बुद्ध भगवान् ने भी पुनर्जन्म माना है।

पक्का निरीश्वरवादी जर्मन पण्डित निट्शे, कर्मचक्रकृत् पूर्वजन्म को मानता है। यह पुनर्जन्म का स्वीकार आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने के लिये प्रबल प्रमाण है।

कर्म-तत्त्व के विषय मे जैनदर्शन की विशेषता—जैनदर्शन मे प्रत्येक कर्म की बध्यमान, सत् और उदयमान, ये तीन अवस्थाये मानी हुई है। उन्हे क्रमश बन्ध, सत्ता और उदय कहते है। जैनेतर दर्शनो मे भी कर्म की इन अवस्थाओ का वर्णन है। उनमे बध्यमान कर्म को 'क्रियमाण' सत्कर्म को 'सचित' और उदयमान कर्म को 'प्रारब्ध' कहा है। किन्तु जैनशास्त्र मे ज्ञानावरणीय आदि रूप मे कर्म के ८ तथा १४८ भेदों मे वर्गीकरण किया है और इसके द्वारा ससारी आत्मा की अनुभव सिद्ध भिन्न-भिन्न अवस्थाओ का जैसा खुलासा किया गया है, वैसा किसी भी जैनेतर दर्शन मे नही है। पातञ्जल दर्शन मे कर्म के जाति, आयु और भोग, ये तीन तरह के विपाक बतलाये है, परन्तु जैनदर्शन मे कर्म के सम्बन्ध मे किये गये विचार के सामने वह वर्णन नाममात्र का है।

आत्मा के साथ कर्म का बन्ध कैसे होता है? किन-किन कारणो से होता है? किस कारण से कर्म मे कैसी शक्ति पैदा होती है? कर्म, अधिक से अधिक और कम से कम कितने समय तक आत्मा के साथ लगा रह सकता है? आत्मा के साथ लगा हुआ भी कर्म, कितने समय तक विपाक देने मे असमर्थ है। विपाक का नियत समय भी बदला जा सकता है या नही? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिये कैसे आत्मपरिणाम आवश्यक है? एक कर्म, अन्य कर्मरूप कब बन सकता है? उसकी बन्धकालीन तीव्र-मन्द शक्तियां किस प्रकार बदली जा सकती है? पीछे से विपाक देने वाला कर्म पहले ही कब और

किस तरह भोगा जा सकता है ? कितना भी बलवान् कर्म क्यों न हो, पर उसका विपाक शुद्ध आत्मिक परिणामो मे कैसे रोक दिया जाता है ? कभी-कभी आत्मा के सतत प्रयत्न करने पर भी कर्म, अपना विपाक बिना भोगवाये नही छूटता ? आत्मा, किस तरह कर्म का कर्त्ता और किस तरह भोक्ता है ? इतना होने पर भी वस्तुत आत्मा मे कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस प्रकार नही है ? सक्लेशरूप परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस तरह डाल देते है ? आत्मा वीर्य-शक्ति के आविर्भाव के द्वारा इस सूक्ष्म रज के पटल को किस तरह उठा फेक देता है ? स्वभावत शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस-किस प्रकार मलिन-सा दीखता है ? और बाह्य हजारो आवरणो के होने पर भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत किस तरह नही होता ? वह अपनी उत्क्रान्ति के समय पूर्वबद्ध तीव्र कर्मो को भी किस तरह हटा देता है ? वह अपने मे वर्त्तमान परमात्म-भाव को देखसे के लिये जिस समय उत्सुक होता है उस समय उसके और अन्तरायभूत कर्म के बीच कैसा द्वन्द्व (युद्ध) होता है ? अन्त मे वीर्यवान् आत्मा किस प्रकार के परिणामो से बलवान् कर्मो को कमजोर करके अपने प्रगति-मार्ग को निष्कण्टक करता है? शुद्ध आत्म स्थल मे वर्तमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने मे सहायक परिणाम, जिन्हे 'अपूर्वकरण' तथा 'अनिवृत्तिकरण' कहते है, उनका क्या स्वरूप है ? जीव अपनी शुद्ध-परिणाम-तरगमाला के वैद्युतिक यन्त्र से कर्म के पहाड़ो को किस कदर चूर-चूर कर डालता है ? कभी-कभी गुलाट खाकर कर्म ही, जो कुछ देर के लिये दबे होते है, वे ही प्रगतिशील आत्मा को किस तरह नीचे पटक देते है ? कौन-

-२ कर्म, वन्ध की व उदय की अपेक्षा आपस मे विरोधी हैं ? किस कर्म का वन्ध किस अवस्था मे अवश्यम्भावी और किस अवस्था मे अनियत है ? किस कर्म का विपाक किस हालत तक नियत और किस हालत मे अनियत है ? 'आत्म सम्वन्ध अतीन्द्रिय कर्मराज किस प्रकार की आकर्षण शक्ति से स्थूल पुद्गलो को खीचा करती है और उनके द्वारा शरीर, मन, सूक्ष्म शरीर आदि का निर्माण किया करती है ? इत्यादि सख्यातीत प्रश्न, जो कर्म से सम्वन्ध रखते हैं, उनका सयुक्तिक, विस्तृत व विशद खुलासा जैनकर्म साहित्य के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य से नही किया जा सकता। यही कर्म तत्त्व के विषय मे जैनदर्शन की विशेषता है।

ग्रन्थ-परिचय—ससार मे जितने प्रतिष्ठित सम्प्रदाय (धर्मसस्थाए) हैं, उन सवका साहित्य दो विभागो मे विभाजित है—तत्त्वज्ञान और आचार-क्रिया।

ये दोनो विभाग एक दूसरे से बिलकुल ही अलग नही है। उनका सम्वन्ध वैसा ही है जैसा शरीर मे नेत्र और हाथ पैर आदि अन्य अवयवो का। जैन सम्प्रदाय का साहित्य भी तत्त्वज्ञान और आचार, इन दो विभागो मे वटा हुआ है। यह ग्रन्थ पहले विभाग से सम्वन्ध रखता है, अर्थात् इसमे विधिनिषेधात्मक क्रिया का वर्णन नही है, किन्तु इसमे वर्णन है तत्त्व का। यो तो जैनदर्शन मे अनेक तत्त्वो पर विविध दृष्टि से विचार किया है, पर इस ग्रन्थ मे उन सवका वर्णन नही है। इसमे प्रधानतया कर्मतत्त्व का वर्णन है। आत्मवादी सभी दर्शन किसी न किसी रूप मे कर्म को मानते ही है, पर जैन दर्शन इस सम्वन्ध मे अपनी असाधारण विशेषता रखता है अथवा यो कहिये कि कर्मतत्त्व के विचार-प्रदेश मे जैन दर्शन अपना सानी

नहीं रखता, इसलिये इस ग्रन्थ को जैन दर्शन की विशेषता का या जैनदर्शन के विचारणीय तत्त्व का ग्रन्थ कहना उचित है।

विशेष परिचय—इस ग्रन्थ का अधिक परिचय करने के लिए इसके नाम, विषय, वर्णनक्रम, रचना का मूलाधार, परिमाण, भाषा, कर्त्ता आदि अनेक बातो की ओर ध्यान देना जरूरी है।

नाम—इस ग्रन्थ के 'कर्मविपाक' और 'प्रथम कर्मग्रन्थ' इन दो नामो मे से पहला नाम तो विषयानुरूप है तथा उसका उल्लेख स्वय ग्रन्थकार ने आदि मे "कम्मविवाग समासओ वुच्छ" तथा अन्त मे "इ अ कम्मविवागोऽय" इस कथन मे स्पष्ट ही कर दिया है। परन्तु दूसरे नाम का उल्लेख कही भी नही किया है। वह नाम केवल इसलिए प्रचलित हो गया है कि कर्मस्तव आदि अन्य कर्मविपयक ग्रन्थो मे यह पहला है, इसके विना पढे कर्मस्तव आदि अगले प्रकरणो मे प्रवेश ही नही हो सकता। पिछला नाम इतना प्रसिद्ध है कि पढने-पढाने वाले तथा अन्य लोग प्राय उसी नाम से व्यवहार करते है। पहला कर्मग्रन्थ, इस प्रचलित नामसे मूल नाम यहा तक अप्रसिद्धसा हो गया है कि कर्मविपाक कहने से बहुत लोग कहने वाले का आशय ही नही समझते। यह बात इस प्रकरण के विषय मे ही नही, बल्कि कर्मस्तव आदि अग्रिम प्रकरणो के विषय मे भी बराबर लागू पडती है। अर्थात् कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीतिक, शतक और सप्तति का कहने से क्रमश दूसरे, तीसरे, चौथे, पाचवे और छठे प्रकरण का मतलब बहुत कम लोग समझेगे, परन्तु दूसरा, तीसरा, चौथा पाचवा और छठा कर्मग्रन्थ कहने से सब लोग कहने वाले का भाव समझ लेगे।

विषय—इस ग्रन्थ का विषय कर्मतत्त्व है, पर इसमे कर्म

से सम्बध रखने वाली अनेक वातो पर विचार न करके प्रकृति-अश पर ही प्रधानतया विचार किया है, अर्थात् कर्म की सब प्रकृतियो का विपाक ही इसमे मुख्यतया वर्णन किया गया है। इसी अभिप्राय से इसका नाम भी 'कर्मविपाक' रक्खा गया है।

वर्णन-क्रम—इस ग्रन्थ मे सबसे पहले यह दिखाया है कि कर्मबन्ध स्वाभाविक नही, किन्तु सहेतुक है। इसके बाद कर्म का स्वरूप परिपूर्ण जनाने के लिये उसे चार अशो मे विभाजित किया है-प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश। इसके बाद आठ प्रकृतियो के नाम और उनके उत्तर भेदो की सख्या बताई गई है। अनन्तर ज्ञानवरणीय कर्म के स्वरूप को दृष्टात, कार्य और कारण द्वारा दिखलाने के लिये प्रारम्भ मे ग्रन्थकार ने ज्ञान-का निरूपण किया है। ज्ञान के पाच भेदो को और उनके अवान्तर भेदो को सक्षेप मे, परन्तु तत्त्व रूप से दिखाया है। ज्ञान का निरूपण करके उसके आवरणभूत कर्म का दृष्टान्त द्वारा उद्घाटन (खुलासा) किया है। अनन्तर दर्शनावरण कर्म को दृष्टान्त द्वारा समझाया है। पीछे उसके भेदो को दिखलाते हुये दर्शन शब्द का अर्थ बतलाया है।

दर्शनावरणीय कर्म के भेदो में पाच प्रकार की निद्राओ का सर्वानुभवसिद्ध स्वरूप, सक्षेप मे, पर बड़ी मनोरजकता से वर्णन किया है। इसके बाद क्रम से सुखदु खजनक वेदनीयकर्म, सद्विश्वास और सच्चारित्र के प्रतिवन्धक मोहनीयकर्म अक्षय जीवन-के विरोधी आयुकर्म, गति, जाति आदि अनेक अवस्थाओ के जनक नामकर्म, उच्चनीचगोत्रजनक गोत्रकर्म और लाभ आदि मे रुकावट करने वाले अन्तराय कर्म का तथा उन प्रत्येक कर्म के भेदो का थोडे मे, किन्तु अनुभवसिद्ध वर्णन किया है। अन्त मे प्रत्येक कर्म के कारण को दिखाकर ग्रन्थ समाप्त किया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रधान विषय कर्म का विपाक है, तथापि प्रसगवश इसमे जो कुछ कहा गया है, उस सबको सक्षेप मे पाच विभागो मे बाट सकते है —

१–प्रत्येक कर्म के प्रकृति आदि चार अको का कथन, २–कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतिया, ३–पाच प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का वर्णन, ४–सब प्रकृतियो का दृष्टान्तपूर्वक कार्य-कथन, ५–सब प्रकृतियो के कारण का कथन।

आधार—यो तो यह ग्रन्थ कर्मप्रकृति, पचसग्रह आदि प्राचीनतर ग्रन्थो के आधार पर रचागया है, परन्तु इसका साक्षात् आधार प्राचीन कर्मविपाक है, जो श्री गर्गऋषि का बनाया हुआ है। प्राचीन कर्मग्रन्थ १६६ गाथाप्रमाण होने से पहले पहल कर्मशास्त्र मे प्रवेश करने वालो के लिये बहुत विस्तृत हो जाता है, इसलिये उसका सक्षेप केवल ६१ गाथाओ मे कर दिया गया है। इतना सक्षेप होने पर भी इसमे प्राचीन कर्मविपाक की खास व तात्त्विक बात कोई भी नही छूटी है। इतना ही नही, बल्कि सक्षेप करने मे ग्रन्थकार ने यहा तक ध्यान रक्खा है कि कुछ अति उपयोगी नवीन विषय, जिनका वर्णन प्राचीन कर्मविपाक मे नही है, उन्हे भी इस ग्रन्थ मे दाखिल कर दिया है। उदाहरणार्थ–श्रुतज्ञान के पर्याय आदि २० भेद तथा आठ कर्मप्रकृतियो के बन्ध के हेतु, प्राचीन कर्मविपाक मे नही हैं, पर उनका वर्णन इसमे है। सक्षेप करने मे ग्रन्थकार ने इस तत्त्व की ओर भी ध्यान रक्खा है कि जिस एक बात का वर्णन करने से अन्य बाते भी समानता के कारण सुगमता से समझी जा सके वहा उस बात को ही बतलाना, अन्य को नही। इसी अभिप्राय से, प्राचीन कर्मविपाक मे जैसे प्रत्येक मूल या उत्तर प्रकृति का विपाक दिखाया है वैसे इस ग्रन्थ मे नही

दिखाया है। परन्तु आवश्यक वक्तव्य मे कुछ भी कमी नही की गई है। इसी से इस ग्रन्थ का प्रचार सर्वसाधारण हो गया है। इसके पढने वाले प्राचीन कर्मविपाक को विना टीका-टिप्पण के अनायास ही समझ सकते हैं। यह ग्रन्थ संक्षेप रूप से होने से सबको मुख-पाठ करने मे व याद रखने मे वडी आसानी होती है। इसी से प्राचीन कर्म विपाक के छप जाने पर भी इसकी चाह और माग मे कुछ भी कमी नही हुई है। इस कर्मविपाक की अपेक्षा प्राचीन कर्मविपाक वडा है सही, पर वह भी उससे पुरातन ग्रन्थ का सक्षेप ही है, यह वात उसकी आदि मे वर्तमान "वोच्छ कम्मविवाग गुरुवइट्ठ समासेण" इस वाक्य से स्पष्ट है।

भाषा—यह कर्म ग्रन्थ तथा इसके आगे के अन्य सभी कर्मग्रन्थ मूल प्राकृत भाषा मे हैं। इनकी टीका सस्कृत मे है। मूल गाथाए ऐसी सुगम भाषा मे रची हुई है कि पढने वालो को थोडा वहुत संस्कृत का वोध हो और उन्हे कुछ प्राकृत के नियम समझा दिये जाय तो वे मूल गाथाओ के ऊपर से ही विषय का परिज्ञान कर सकते है। सस्कृत टीका भी वडी विशद भाषा मे सुगमता से के साथ लिखी गई है, जिससे जिज्ञासुओ को पढने मे वहुत सुगमता होती है।

ग्रन्थकारकी जीवनी

समय—प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता श्री देवेन्द्रसूरिका समय विक्रम की १३ वी शताब्दी का अन्त और चौदह वी शताब्दी का आरम्भ है। उनका स्वर्गवास वि स १३२७ मे हुआ, ऐसा उल्लेख गुर्वावली के १७४ वें श्लोक मे स्पष्ट है, परन्तु उनके जन्म, दीक्षा, सूरिपद आदि के समय का उल्लेख कही नही मिलता, तथापि यह जान पडता है कि १२८५ में श्री जगच्चन्द्र

इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रधान विपय कर्म का विपाक है, तथापि प्रसगवश इसमे जो कुछ कहा गया है, उस सबको संक्षेप मे पाच विभागो मे वाट सकते है —

१–प्रत्येक कर्म के प्रकृति आदि चार अको का कथन, २–कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतिया, ३–पाच प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का वर्णन, ४–सब प्रकृतियो का दृष्टान्तपूर्वक कार्य-कथन, ५–सब प्रकृतियो के कारण का कथन।

आधार—यो तो यह ग्रन्थ कर्मप्रकृति, पञ्चसग्रह आदि प्राचीनतर ग्रन्थो के आधार पर रचागया है, परन्तु इसका साक्षात् आधार प्राचीन कर्मविपाक है, जो श्री गर्गऋषि का वनाया हुआ है। प्राचीन कर्मग्रन्थ १६६ गाथाप्रमाण होने से पहले पहल कर्मशास्त्र मे प्रवेश करने वालो के लिये बहुत विस्तृत हो जाता है, इसलिये उसका सक्षेप केवल ६१ गाथाओ मे कर दिया गया है। इतना सक्षेप होने पर भी इसमे प्राचीन कर्मविपाक की खास व तात्त्विक वात कोई भी नही छूटी है। इतना ही नही, वल्कि सक्षेप करने मे ग्रन्थकार ने यहा तक ध्यान रक्खा है कि कुछ अति उपयोगी नवीन विपय, जिनका वर्णन प्राचीन कर्मविपाक मे नही है, उन्हे भी इस ग्रन्थ मे दाखिल कर दिया है। उदाहरणार्थ–श्रुतज्ञान के पर्याय आदि २० भेद तथा आठ कर्मप्रकृतियो के वन्ध के हेतु, प्राचीन कर्मविपाक मे नही है, पर उनका वर्णन इसमे है। सक्षेप करने मे ग्रन्थकार ने इस तत्त्व की ओर भी ध्यान रक्खा है कि जिस एक वात का वर्णन करने से अन्य वाते भी समानता के कारण सुगमता से समझी जा सके वहा उस वात को ही वतलाना, अन्य को नही। इसी अभिप्राय से, प्राचीन कर्मविपाक मे जैसे प्रत्येक मूल या उत्तर प्रकृति का विपाक दिखाया है वैसे इस ग्रन्थ मे नही

दिखाया है। परन्तु आवश्यक वक्तव्य मे कुछ भी कमी नही की गई है। इसी से इस ग्रन्थ का प्रचार सर्वसाधारण हो गया है। इसके पढने वाले प्राचीन कर्मविपाक को बिना टीका-टिप्पण के अनायास ही समझ सकते है। यह ग्रन्थ सक्षेप रूप से होने से सबको मुख-पाठ करने मे व याद रखने मे बडी आसानी होती है। इसी से प्राचीत कर्म विपाक के छप जाने पर भी इसकी चाह और माग मे कुछ भी कमी नही हुई है। इस कर्मविपाक की अपेक्षा प्राचीन कर्मविपाक वडा है सही, पर वह भी उससे पुरातन ग्रन्थ का सक्षेप ही है, यह बात उसकी आदि मे वर्तमान "वोच्छ कम्मविवाग गुरुवइट्ठ समासेण" इस वाक्य से स्पष्ट है।

भाषा—यह कर्म ग्रन्थ तथा इसके आगे के अन्य सभी कर्मग्रन्थ मूल प्राकृत भाषा मे हैं। इनकी टीका सस्कृत मे है। मूल गाथाए ऐसी सुगम भाषा मे रची हुई है कि पढने वालो को थोडा वहुत सस्कृत का बोध हो और उन्हे कुछ प्राकृत के निमय समझा दिये जाय तो वे मूल गाथाओ के ऊपर से ही विषय का परिज्ञान कर सकते हैं। सस्कृत टीका भी बडी विशद भाषा मे खुलासे के साथ लिखी गई है, जिससे जिज्ञासुओ को पढने मे वहुत सुगमता होती है।

ग्रन्थकारकी जीवनी

समय—प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता श्री देवेन्द्रसूरिका समय विक्रम की १३ वी शताब्दी का अन्त और चौदह वी शताब्दी का आरम्भ है। उनका स्वर्गवास वि स १३२७ मे हुआ, ऐसा उल्लेख गुर्वावली के १७४ वे श्लोक मे स्पष्ट है, परन्तु उनके जन्म, दीक्षा, सूरिपद आदि के समय का उल्लेख कही नही मिलता, तथापि यह जान पडता है कि १२८५ मे श्री जगच्चन्द्र

सूरि ने तपागच्छ की स्थापना की, तब वे दीक्षित हुए होंगे। क्योकि गच्छस्थापना के बाद श्री जगच्चन्द्रसूरि के द्वारा ही श्री देवेन्द्रसूरि और श्री विजयचन्द्रसूरि को सूरिपद दिये जाने का वर्णन गुर्वावली के १०७ वे श्लोक मे है। यह तो मानना ही पडता है कि सूरिपद ग्रहण करने के समय श्री देवेन्द्रसूरि वय, विद्या और सयम से स्थविर होगे। अन्यथा इतने गुरुतर पद का और खास करके नवीन प्रतिष्ठित किये गये तपागच्छ के नायकत्व का भार वे कैसे सम्हाल सकते ?

उनका सूरिपद वि स १२८५ के बाद हुआ। सूरिपद का समय अनुमान वि स १३०० मान लिया जाय, तब भी यह कहा जा सकता है कि तपागच्छ की स्थापना के समय वे नव-दीक्षित होगे। उनकी कुल उम्र ५० या ५२ वर्ष की मान ली जाय तो यह सिद्ध है कि वि स १२७५ के लगभग उनका जन्म हुआ होगा। वि स १३०२ मे उन्होने उज्जयिनी मे श्रेष्ठिवर जिनचन्द्र के पुत्र वीरधवल को दीक्षा दी, जो आगे विद्यानन्दसूरि के नाम से विख्यात हुये। उस समय देवेन्द्रसूरि की उम्र २५-२७ वर्ष की मान ली जाय तब भी उक्त अनुमान की १२७५ के लगभग जन्म होने की पुष्टि होती है। अस्तु, जन्म का, दीक्षा का तथा सूरिपद का समय निश्चित न होने पर भी इस बात मे कोई सदेह नही है कि वे विक्रम की १३ वी शताब्दी के अत मे तथा चौदह वी शताब्दी के आरम्भ मे अपने अस्तित्व मे भातवर्ष की, और खासकर गुजरात तथा मालवा की शोभा बढा रहे थे।

जन्मभूमि, जाति आदि-श्री देवेन्द्रसूरि का जन्म किस देश मे, किस जाति और किस परिवार मे हुआ ? इसका कोई प्रमाण अब तक नही मिला। गुर्वावली के पृष्ठ १०७ से आगे

उनके जीवन का वृत्तान्त है, पर वह है वहुत सक्षिप्त। उसमे सूरिपद ग्रहण करने के वाद की बातो का उल्लेख है, अन्य वातो का नही। इस लिये उसके आधार पर उनके जीवन के सम्वन्ध मे जहा कही उल्लेख हुआ है वह अधूरा ही है। तथापि गुजरात और मालवा मे उनका अधिक विहार, इस अनुमान की सूचना कर सकता है कि वे गुजरात या मालवा में से किसी देश मे जन्मे होगे। उनकी जाति और माता-पिता के सम्वन्ध मे तो साधन-अभाव से किसी प्रकार के अनुमान को अवकाश ही नही है।

विद्वत्ता और चारित्रतत्परता—श्री देवेन्द्रसूरिजी जैन शास्त्र के पूरे विद्वान् थे, इसमे तो कोई सन्देह नही; क्योकि इस वात की गवाही उनके ग्रन्थ ही दे रहे हैं। अब तक उनका वनाया हुआ एसा कोई ग्र थ देखने मे नही आया, जिसमे उन्होंने स्वतन्त्र भाव से षड्दर्शन पर अपने विचार प्रकट किये हो, परन्तु गुर्वावली के वर्णन से पता चलता है कि वे षड्दर्शन के मार्मिक विद्वान् थे और इसीसे मन्त्रीश्वर वस्तुपाल तथा अन्य २ विद्वान् उनके व्याख्यान मे आया करते थे। यह कोई नियम नही है कि जो जिस विषय का पण्डित हो, वह उस पर ग्रंथ लिखे ही। कई कारणो से ऐसा नही भी हो सकता, परन्तु श्री देवेन्द्रसूरि का जैनागमविषयक ज्ञान हृदयस्पर्शी था, यह बात असन्दिग्ध है। उन्होने पाँच कर्मग्रन्थ, जो 'नवीन कर्मग्रन्थ' के नाम से प्रसिद्ध हैं (और जिन मे से यह पहला है) सटीक रचे है। टीका इतनी विशद और सप्रमाण है कि उसे देखने के वाद प्राचीन कर्मग्रन्थ या उसकी टीकाये देखने की जिज्ञासा एक तरह से शात हो जाती है। उनके सस्कृत तथा प्राकृत भाषा मे रचे हुये अनेक ग्र थ इस वात की स्पष्ट सूचना करते हैं कि वे सस्कृत प्राकृत भाषा के प्रखर पण्डित थे।

श्री देवेन्द्रसूरि केवल विद्वान् ही न थे, किन्तु वे चारित्र-धर्म मे बडे दृढ थे। इसके प्रमाण मे इतना ही कहना पर्याप्त है कि उस समय क्रियाशिथिलता को देखकर श्रीजगच्चन्द्रसूरि ने वडे पुरुषार्थ और नि सीम त्याग से, जो क्रियोद्धार किया था, उसका निर्वाह श्री देवेन्द्रसूरि ने ही किया। यद्यपि श्री जगच्चन्द्रसूरि ने श्री देवेन्द्रसूरि तथा श्री विजयचन्द्रसूरि दोनो को आचार्य पद-पर प्रतिष्ठित किया था, तथापि गुरु के आरम्भ किये हुये क्रियो-द्धारके दुर्धर कार्य को श्री देवेन्द्रसूरि ही सम्हाल सके। तत्कालीन शिथिलाचार्य्यो का प्रभाव उन पर कुछ भी नही पडा। इसमे उलटा श्री विजयचन्द्रसूरि, विद्वान् होने पर भी प्रमाद के-चगुल मे फस गये और शिथिलाचारी हुये। (गुर्वावली पद्य १२२ से आगे) अपने सहचारी को शिथिल देख, समझाने पर भी उनके न समझने से अन्त मे श्री देवेन्द्रसूरि ने अपनी क्रियारुचि के कारण उनसे अलग होना पसद किया। इससे यह बात साफ प्रमाणित होती है कि वे वडे दृढ मन के और गुरु भक्त थे। उनका हृदय ऐसा सस्कारी था कि उसमे गुण का प्रतिबिम्ब तो शीघ्र पड जाता था, दोप का नही, क्योकि १० वी ११ वी १२ वी, १३ वी शताब्दी मे जो श्वेताम्बर तथा दिगम्बर के अनेक असाधारण विद्वान हुये, उनकी विद्वत्ता, ग्रन्थनिर्माणपटुता और चारित्रप्रि-

---

* उदाहरणार्थ—श्री गर्गऋषि, जो दशवी शताब्दी मे हुये, उनके कर्म विपाक का सक्षेप इन्होने किया। श्री नेमिचन्द्र सिद्धातचक्र-वर्त्ती, जो ११ वी शताब्दी मे हुये, उनके रचित गोम्मटसार से श्रुतज्ञान के पदश्रुतादि वीस भेद पहले कर्मग्रन्थ मे दाखिल किये, जो श्वेताम्बरीय अन्य ग्रन्थ मे अव तक देखने मे नही आये। श्रीमलयागिरिसूरि, जो १२ वी शताब्दी मे हुये, उनके ग्रन्थ के तो वाक्य के वाक्य इनके वनाये टीका आदि मे दृष्टिगोचर होते हैं।

यता आदि गुणो का प्रभाव तो श्री देवेन्द्रसूरि के हृदय पर पडा, * परन्तु उस समय जो अनेक शिथिलाचारी थे, उनका असर इन पर कुछ भी नही पडा।

श्री देवेन्द्रसूरि के शुद्धक्रियापक्षपाती होने से अनेक मुमुक्षु-जो कल्याणार्थी व संविग्न-पाक्षिक थे, वे आकर उनसे मिल गये थे। इस प्रकार उन्होंने ज्ञान के समान चरित्र को भी स्थिर रखने व उन्नत करने मे अपनी शक्ति का उपयोग किया था।

गुरु—श्री देवेन्द्रसूरि के गुरु थे श्री जगच्चन्द्रसूरि, जिन्होंने श्री देवभद्र उपाध्याय की मदद से क्रियोद्धार का कार्य आरम्भ किया था। इस कार्य मे उन्होने अपनी असाधारण त्यागवृत्ति दिखाकर औरो के लिए आदर्श उपस्थित किया था। उन्होंने आजन्म आयविल व्रत का नियम लेकर घी, दूध आदि के लिए जैनशास्त्र मे व्यवहार किये गये विकृत शब्द को यथार्थ सिद्ध किया। इस कठिन तपस्या के कारण वडगच्छ का 'तपागच्छ' नाम हुआ और वे तपागच्छ के आदि सूत्रधार कहलाये। मन्त्रीश्वर वस्तुपाल ने गच्छपरिवर्तन के समय श्री जगच्चन्द्र-सूरीश्वर की बहुत अर्चा-पूजा की। श्री जगच्चन्द्रसूरि तपस्वी ही न थे, किन्तु वे प्रतिभाशाली भी थे, क्योकि गुर्वावली मे यह वर्णन है कि उन्होने चित्तौड की राजधानी अघाट (अहड) नगर मे ३२ दिगम्बरवादियो के साथ वाद किया था और उसमे वे हीरे के समान अभेद्य रहे थे। इस कारण चित्तौड नरेश की ओर से उनको 'हीरत्य' की पदवी (गुर्वावलि पद्य ८८ से आगे) मिली थी। उनकी कठिन तपस्या, शुद्ध बुद्धि और निरवद्य चारित्र के लिए यही प्रमाण बस है कि उनके स्थापित किये हुये

---

* यथा श्री हीरविजयसूरि, श्रीमद् न्यायविशारद महामहोपाध्याय यशोविजयगणि, श्रीमद् न्यायाम्भोनिधि विजयानन्दसूरि आदि।

तपागच्छ के पाट पर आज तक ※ ऐसे विद्वान्, क्रियातत्पर और शासन प्रभावक आचार्य्य बराबर होते आये है कि जिनके सामने बादशाहो ने, हिन्दू नरपतियो ने और बडे-बडे विद्वानो ने सिर झुकाया है।

परिवार—श्री देवेन्द्रसूरि का परिवार कितना बडा था, इसका स्पष्ट खुलाला तो कही देखने मे नही आया, पर (पद्य १५३ मे) इतना लिखा मिलता है कि अनेक सविग्न मुनि, उनके आश्रित थे। गुर्वावली मे उनके दो शिष्य—श्री विद्यानन्द और श्रीधर्मकीर्ति का उल्लेख है। ये दोनो भाई थे। 'विद्यानन्द' नाम, सूरिपद के पीछे का है। इन्होने 'विद्यानन्द' नाम का व्याकरण बनाया है। धर्मकीर्ति उपाध्याय ने, जो सूरिपद लेने के बाद 'धर्मघोप' नाम से प्रसिद्ध हुए, उन्होने भी कुछ ग्रन्थ रचे हैं। ये दोनो शिष्य, अन्य शास्त्रो के अतिरिक्त जैनशास्त्र के अच्छे विद्वान् थे। इसका प्रमाण, उनके गुरु श्री देवेन्द्रसूरि की कर्मग्रन्थ की वृत्ति के अन्तिम पद्य से मिलता है। उन्होने लिखा है कि 'मेरी बनाई हुई इस टीका को श्री विद्यानन्द और श्रीधर्मकीर्त्ति, दोनो विद्वानो ने शोधा है।' इन दोनो का विस्तृत वृत्तान्त 'जैनतत्त्वादर्श के १२ वे परिच्छेद मे दिया है।

ग्रन्थ—श्री देवेन्द्रसूरि के कुछ ग्रन्थ, जिसका हाल मालूम हुआ है, उनके नाम नीचे लिखे जाते है—१ श्राद्धदिन कृत्य सूत्रवृत्ति, २ सटीक पाच नवीन कर्म ग्रथ, ३ सिद्धपचाशिका सूत्रवृत्ति, ४ धर्मरत्नवृत्ति, ५ सुदर्शनचरित्र, ६ चैत्यवदनादि भाष्यत्रय, ७ वदारुवृत्ति, ८ सिरिउसहवद्धमाण प्रमुख स्तवन, ९ सिद्धदण्डिका, १० सारवृत्तिदशा।

इनमे से प्राय बहुत ग्रन्थ जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर', आत्मानन्द-सभा भावनगर', और देवचद-लालभाई पुस्तकोद्धार-फन्ड सूरत' की ओर से छप चुके हैं।

॥ जय नानेश ॥

श्री देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मविपाक नामक

प्रथम कर्मग्रन्थ

मङ्गल और कर्मका स्वरुप –

सिरि वीरजिणं वंदिय, कम्मविवाग समासओ वुच्छं ।
कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं ॥ १ ॥

मैं (सिरिवीरजिण) श्री वीर जिनेन्द्र को (वंदिय) नमस्कार करके (समासओ) संक्षेप से (कम्मविवाग) कर्मविपाक नामक ग्रन्थ को (वुच्छं) कहूँगा, (जेण) जिस कारण, (जिएण) जीव के द्वारा (हेउहिं) हेतुओं से मिथ्यात्व, कषाय आदि से (कीरइ) किया जाता है—अर्थात् कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्य अपने-अपने प्रदेशों के साथ मिला लिया जाता है (तो) इसलिये वह आत्मसम्बद्ध पुद्गलद्रव्य, (कम्म) कर्म (भण्णए) कहलाता है ॥१॥

भावार्थ–राग द्वेषके जीतनेवाले श्री महावीर को नमस्कार करके कर्म के अनुभव का जिसमें वर्णन है, ऐसे कर्म विपाक नामक ग्रन्थ को संक्षेप में कहूँगा। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-इन हेतुओं से जीव, कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्य को अपने आत्म प्रदेशों के साथ बांध लेता है इसलिये आत्मसम्बद्ध पुद्गल-द्रव्य को कर्म कहते हैं।

श्री वीर–श्री शब्द का अर्थ है लक्ष्मी, उसके दो भेद हैं

अन्तरग और वाह्य । अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतमुख, अनत-वीर्य आदि आत्मा के स्वाभाविक गुणो को अन्तरगलक्ष्मी कहते है । १ अशोक वृक्ष, २ सुरपुष्पवृष्टि, ३ दिव्यध्वनि, ४ चामर, ५ आसन, ६ भामण्डल, ७ दुन्दुभि, और ८ आतपत्र ये आठ महा-प्रातिहार्य है, इनको वाह्यलक्ष्मी कहते है ।

जिन–मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, आदि अन्तरग शत्रुओ को जीतकर जिसने अपने अनतज्ञान, अनतदर्शन आदि गुणो को प्राप्त कर लिया है, उसे "जिन" कहते हैं ।

कर्म–पुद्गल उसे कहते है, जिसमे रुप, रस, गन्ध, और स्पर्श हो, पृथ्वी, पानी, आग और हवा, पुद्गल से वने हैं । जो पुद्गल, कर्म बनते है, वे एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज अथवा धूलि है जिसको इद्रिया, यन्त्र की मदद से भी नही जान सकती । सर्वज्ञ परमात्मा अथवा परम अवधिज्ञान वाले योगी ही उस रज को देख सकते है, जीव के द्वारा जव वह रज, ग्रहण की जाती है तव उसे कर्म कहते है ।

शरीर मे तेल लगाकर कोई धूलि मे लोटे, तो धूलि उसके शरीर मे चिपक जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, कषाय, योग आदि से जीव के प्रदेशो मे जब परिस्पद होता है-अर्थात हल चल होती है, तव, जिस आकाश मे आत्मा के प्रदेश है, वही के, अनत कर्मयोग्य पुद्गलपरमाणु, जीव के एक २ प्रदेश के साथ वन्ध जाते है । इस प्रकार जीव और कर्म का आपस मे वन्ध होता है । दूध और पानी का तथा आग का और लोहे के गोले का जैसे सम्वन्ध होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गल का सम्वन्ध होता है ।

कर्म और जीव का अनादि काल से सम्वन्ध चला आ रहा है । पुराने कर्म अपना फल देकर आत्मप्रदेशो से जुदे हो जाते है

और नये कर्म प्रति समय बन्धते जाते है। कर्म और जीव का सादि सम्बन्ध मानने से यह दोष आता है कि "मुक्त जीवो को भी कर्मबन्ध होना चाहिये"।

कर्म और जीव का अनादि-अनत तथा अनादि सात दो प्रकार का सम्बध है। जो जीव मोक्ष पा चुके है या पावेंगे उनका कर्म के साथ अनादि-सान्त सम्बध है, और जिनका कभी मोक्ष न होगा उनका कर्म के साथ अनादि-अनत सम्बध है। जिन जीवो मे मोक्ष पाने की योग्यता है उन्हे भव्य, और जिनमे योग्यता नही है उन्हे अभव्य कहते है।

जीव का कर्म के साथ अनादि काल से सम्बध होने पर भी जब जन्म-मरण-रुप ससार से छूटने का समय आता है तब जीव को विवेक उत्पन्न होता है- अर्थात् आत्मा और जड की भिन्नता मालूम हो जाती है। तप-ज्ञान-रुप अग्नि के बल से वह सम्पूर्ण कर्ममल को जलाकर शुद्ध सुवर्ण के समान निर्मल हो जाता है। यही शुद्ध आत्मा ईश्वर है, परमात्मा है अथवा ब्रह्म है।

श्री शकराचार्य भी उक्त अवस्था मे पहुचे हुये जीव को परब्रह्म-शब्द से स्मरण करते है —

प्राक्कर्म्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां।
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥

अर्थात् ज्ञानबल से पहले बाधे हुये कर्मो को गला दो, नये कर्मो का बन्ध मत होने दो और प्रारब्ध कर्म को भोगकर क्षीण कर दो, उसके बाद पर ब्रह्मस्वरुप मे अनत काल तक बने रहो। पुराने कर्मो के गलाने को "निर्जरा' और नये कर्मो का बन्ध न होने देने को "सवर" कहते है।

जब तक शत्रु का स्वरुप समझ मे नही आता तब तक उस

पर विजय पाना असम्भव है। कर्म से बढकर कोई शत्रु नही है जिस ने आत्मा की अखण्ड शान्ति का नाश किया है। अतएव उस शान्ति की जिन्हे चाह है, वे कर्म का स्वरूप जाने भगवान वीर की तरह कर्म शत्रु का नाश कर अपने असली स्वरूप को प्राप्त करे और अपनी 'वेदाहमेत परम महान्तमादित्यवर्ण तमस परस्तात' की दिव्यध्वनि को सुनाते रहे। इसी के लिये कर्म ग्रन्थ बने हुये है।

कर्म बन्ध के चार भेद तथा मूल उत्तर प्रकृतियो की सख्या –

पयइठिइरसपएसा त चउहा मोयगस्स दिट्ठंता।
मूलपगइट्ठउत्तर पगई अडवन्नसयमेय ॥ २ ॥

(त) वह कर्म बन्ध (मोयगस्स) लड्डु के (दिट्ठ ता) दृष्टात से (पयइठिइर सपएसा) प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश की अपेक्षा से (चउहा) चार प्रकार का है (मूलपगइठ्ठ) मूल प्रकृतिया आठ और (उत्तर पगई अडवन्न सयमेय) उत्तर प्रकृतिया एक सो अट्टावन १५८ है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रथम गाथा मे कर्म का स्वरूप कहा गया है, उस के बन्ध के चार भेद है–१ प्रकृति बन्ध, २ स्थिति बध, ३ रस बध और ४ प्रदेश बध। इन चार भेदो को समझने के लिये लड्डु का दृष्टात दिया गया है। कर्म की मूल प्रकृतिया ८ और उत्तर प्रकृतिया १५८ है।

१–जीव के द्वारा ग्रहण किये हुये कर्म पुद्गलो मे भिन्न स्वभावो का अर्थात् शक्तियो का पदा होना, प्रकृति बन्ध कहलाता है।

२–जीव के द्वारा ग्रहण किये हुये कर्म पुद्गलो मे अमुक काल तक अपने स्वाभावो को त्याग न कर जीव के साथ रहने की काल मर्यादा का होना, स्थिति बध कहलाता है।

३–जीव के द्वारा ग्रहण किये हुये कर्मपुद्गलो मे रस के तरतमभावका, अर्थात् फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना, रसबन्ध कहलाता है । रसबन्ध को अनुभागबन्ध और अनुभवबन्ध भी कहते है ।

४–जीव के साथ, न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धो का सम्बन्ध होना, प्रदेशबन्ध कहलाता है । इस विषय का एक श्लोक इस प्रकार है —

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः, स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दलसञ्चय. ॥

अर्थात्–स्वभाव को प्रकृति कहते हैं, काल की मर्यादा को स्थिति, अनुभाग को रस और दलो की सख्या को प्रदेश कहते हैं ।

दृष्टात और दार्ष्टान्तिक मे प्रकृति आदि का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये —

वातनाशक पदार्थों से–सोठ, मिर्च, पीपल आदि से बने हुये लड्डुओ का स्वभाव जिस प्रकार वायु के नाश करने का है, पित्त-नाशक पदार्थों से बने हुये लड्डुओ का स्वभाव जिस प्रकार पित्त के दूर करने का है, कफनाशक पदार्थों से बने हुये लड्डुओ का स्वभाव जिस प्रकार कफ के नष्ट करने का है, इसी प्रकार आत्मा के द्वारा ग्रहण किये हुये कुछ कर्म पुद्गलो मे आत्मा के ज्ञान गुण के घात करने की शक्ति उत्पन्न होती है कुछ कर्म पुद्गलो मे आत्मा के दर्शनगुणो को ढक देने की शक्ति पैदा होती है, कुछ कर्म-पुद्गलो मे आत्मा के आनन्द गुण को छिपा देने की शक्ति पैदा होती है, कुछ कर्मपुद्गलो मे आत्मा की अनन्त सामर्थ्य को दबा देने की शक्ति पैदा होती है, इस तरह भिन्न भिन्न कर्मपुद्गलो मे भिन्न भिन्न-प्रकार की प्रकृतियो के अर्थात् शक्तियो के बन्ध को अर्थात् उत्पन्न होने को प्रकृतिबन्ध कहते है ।

कुछ लड्डू एक सप्ताह तक रहते है, कुछ लड्डू एक पक्ष तक, कुछ लड्डू एक महीने तक, इस तरह लड्डुओ की जुदी-जुदी काल मर्यादा होती है, काल मर्यादा को स्थिति कहते है, स्थिति के पूर्ण होने पर, लड्डू अपने स्वभाव को छोड देते है अर्थात् बिगड जाते है, इसी प्रकार कोई कर्म दल आत्मा के साथ सत्तर क्रोडा क्रोडी सागरोपम तक, कोई कर्म दल बीस क्रोडाक्रोडी सागरोपम तक, कोई कर्म दल अन्तर्मुहूर्त तक रहते है, इस तरह जुदे-जुदे कर्म दलो मे, जुदी-जुदी स्थितियो का अर्थात् अपने स्वभाव को त्याग न कर आत्मा के साथ बने रहने की काल मर्यादाओ का बन्ध अर्थात् उत्पन्न होना, स्थिति बन्ध कहलाता है। स्थिति के पूर्ण होने पर कर्म दल अपने स्वभाव को छोड देते है–आत्मा से भिन्न हो जाते है।

कुछ लड्डुओ मे मधुर रस अधिक, कुछ लड्डुओ मे कम, कुछ लड्डुओ मे कटुरस अधिक, कुछ लड्डुओ मे कम, इस तरह मधुर कटु आदि रसो की न्यूनाधिकता देखी जाती है, उसी प्रकार कुछ कर्म दलो मे शुभ रस अधिक कुछ कर्म दलो मे कम, कुछ कर्म दलो मे अशुभ रस अधिक, कुछ कर्म दलो मे कम, इस तरह विविध प्रकार के अर्थात् तीव्र तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द मन्दतर, मन्दतम शुभ अशुभ रसो का कर्म पुद्गलो मे बन्धना अर्थात् उत्पन्न होना, रस बन्ध कहलाता है।

शुभ कर्मो का रस, ईख द्राक्षादि के रस के सदृश मधुर होता है जिसके अनुभव से जीव खुश होता है। अशुभ कर्मो का रस, नीम आदि क रस के सदृश कडुआ होता है, जिसके अनुभव से जीव बुरी तरह घबरा उठता है। तीव्र, तीव्रतर तीव्रतम आदि को समझने के लिये दृष्टातर के तौर पर ईख या नीम का चार-चार सेर रस लिया जाय। इस रस को स्वाभाविक रस कहना चाहिये। आच

के द्वारा औटाकर चार सेर की जगह तीन सेर वच जाय तो उसे तीव्र कहना चाहिये और औटाने से दो सेर वच जाय तो तीव्रतर कहना चाहिये और औटा कर एक सेर वच जाय तो तीव्रतम कहना चाहिये । ईख या नीम का एक सेर स्वाभाविक रस लिया जाय उसमे एक सेर पानी के मिलाने से मन्द रस वन जायगा, दो सेर पानी के मिलाने से मन्दतर रस वनेगा, तीन सेर पानी के मिलाने से मन्दतम रस वनेगा ।

कुछ लड्डुओ का परिमाण दो तोले का, कुछ लड्डुओ का छटाक का और कुछ लड्डुओ का परिमणा पाव भर का होता है । इसी प्रकार कुछ कर्म दलो मे परमाणुओ की सख्या अधिक और कुछ कर्म दलो मे कम । इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार के परमाणु सख्याओ से युक्त कर्म दलो का आत्मा मे सम्बन्ध होना, प्रदेशवन्ध कहलाता है ।

सख्यात, असख्यात अथवा अनन्त परमाणुओ से वने हुए स्कन्ध को जीव ग्रहण नही करता किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओ से वने हुए स्कन्ध को ग्रहण करता है ।

मूलप्रकृति—कर्मो के मुख्य भेदो को मूलप्रकृति कहते हैं ।

उत्तरप्रकृति—कर्मो के अवान्तर भेदो को उत्तरप्रकृति कहते हैं ।

कर्म की मूलप्रकृतियो के नाम और हर एक मूलप्रकृति के अवान्तर भेदो की—उत्तर भेदो की सख्या —

इह नाणदसणावरणवेयमोहाउनामगोयाणि ।
विग्घं च पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ॥३॥

(इह) इस शास्त्र मे (नाणदसणावरणवेय मोहाउनाम-

गोयाणि) ज्ञानवरणीय दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र (च) और (विग्घ) अन्तराय, ये आठ कर्म कहे जाते है। इनके क्रमश (पणनव दुअट्ठवीस चउतिसय दुपणविह) पाच, नव, दो, अट्ठाईस, चार, एक सौ तीन, दो और पाच भेद है ॥३॥

भावार्थ—आठ कर्मों के नाम ये है—१ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय। पहले कर्म के उत्तर भेद पाच, दूसरे के नव, तीसरे के दो, चौथे के अट्ठाईस, पाचवे के चार, छठे के एक सौ तीन, सातवे के दो और आठवे के उत्तर भेद पाच है। इस प्रकार आठो कर्मों के उत्तर भेदो की सख्या १५८ होती है।

चेतना आत्मा का गुण है, उसके (चेतना के) पर्याय को उपयोग कहते है। उपयोग के दो भेद है—ज्ञान और दर्शन। ज्ञान को साकार उपयोग कहते है और दर्शन को निराकार उपयोग। जो उपयोग पदार्थों के विशेष धर्मो का—जाति, गुण, क्रिया आदि का ग्राहक है, वह ज्ञान कहा जाता है और जो उपयोग पदार्थों के सामान्य धर्म का अर्थात् सत्ता का ग्राहक है, उसे दर्शन कहते है।

१—जो कर्म, आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करे—ढक देवे, उसे ज्ञानावरणीय कहा जाता है।

२—जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण को आच्छादित करे, वह दर्शनावरणीय कहा जाता है।

३—जो कर्म आत्मा को सुख दुःख पहुचावे, वह वेदनीय कहा जाता है।

४—जो कर्म स्व पर विवेक मे तथा स्वरूपरमण मे बाधा पहुचाता है, वह मोहनीय कहा जाता है। अथवा—जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व गुण का और चरित्र गुण का घात करता है, उसे मोहनीय कहते है।

५—जिस कर्म के अस्तित्व से (रहने से) प्राणी जीता है तथा क्षय होने से मरता है, उसे आयु कहते हैं।

६—जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यञ्च आदि नामो से सम्बोधित होता है अर्थात् अमुक जीव नारक है, अमुक तिर्यञ्च है, अमुक मनुष्य है, अमुक देव है, इस प्रकार कहा जाता है, उसे नाम कहते है।

७—जो कर्म, आत्मा को उच्च तथा नीच कुल मे जन्मावे उसे गोत्र कहते है।

८—जो कर्म आत्मा के वीर्य, दान, लाभ, भोग और उपभोग रूप शक्तियो का घात करता है, वह अन्तराय कहा जाता है।

ज्ञानावरणीय की पाच उत्तर प्रकृतियो को कहने के लिये पहले ज्ञान के भेद दिखलाते हैं —

मइसुयओहीमण केवलाणि नाणाणि तत्थ मइनाण।
वंजणवग्गहचउहा मणनयणविणिंदियचउक्का ॥४॥

(मइसुयओहीमण केवलाणि) मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय और केवल ये पाच (नाणाणि) ज्ञान है। (तत्थ) उनमे पहला (मइनाण) मतिज्ञान अट्ठाईस प्रकार का है, जो इस प्रकार—(मणनयणविणिंदियचउक्का) मन और आख के सिवा अन्य चार इन्द्रियो को लेकर (वंजणवग्गह) व्यञ्जनावग्रह (चउहा) चार प्रकार का है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब आठ कर्मो की उत्तर प्रकृतिया क्रमश कही जाती है। प्रथम ज्ञानावरणीय कर्म है, उसकी उत्तर प्रकृतियो को समझाने के लिये ज्ञान के भेद दिखाते है, क्योकि ज्ञान के भेद समझ मे आ जाने से, उनके आवरण समझने मे सरलता से आ

गनते है। ज्ञान के मुख्य भेद पाच है, उनके नाम १ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान ४ मन पर्यायज्ञान और ५ केवलज्ञान। इन पाचो के हर एक के अवातर भेद अर्थात उत्तर भेद है। मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद है। चार इस गाथा मे कहे गये, बाकी के अगली गाथा मे कहे जायेगे। इस गाथा मे कहे हुए चार भेदो के नाम यह है–स्पर्शनेन्द्रिय व्यजनावग्रह, घ्राणेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह, रसनेद्रिय व्यजनावग्रह और श्रवणेद्रिय व्यञ्जनावग्रह। आख और मन मे व्यञ्जनावग्रह नही होता। कारण यह है कि आख और मन, ये दोनो पदार्थों मे अलग रहकर ही उनको ग्रहण करते है, और व्यजनावग्रह मे तो इद्रियो का पदार्थो के साथ सयोग सम्बध का होना आवश्यक है। आख और मन "अप्राप्यकारी" कहलाते हैं, और अन्य इद्रिया 'प्राप्यकारी'। पदार्थों से मिलकर उनको ग्रहण करने वाली इद्रिया प्राप्यकारी और पदार्थो से विना मिले ही उनको ग्रहण करने वाली इद्रिया अप्राप्यकारी है। तात्पर्य यह है कि, जो इद्रिया प्राप्यकारी है, उन्ही से व्यञ्जनावग्रह होता है, अप्राप्यकारी से नही। आखो मे डाला हुआ अजन, आख से नही दीखता, और मन, शरीर के अन्दर रहकर ही बाहरी पदर्थो को ग्रहण करता है, अतएव य दोनो प्राप्यकारी नही हो सकते।

१–इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे मति ज्ञान कहते है।

२–शास्त्रो के वाचने तथा सुनने से जो अर्थ ज्ञान होता है, वह श्रुत ज्ञान है।

अथवा—मति ज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिसमे हो, ऐसा ज्ञान, श्रुत ज्ञान कहलाता है। जैसे कि घट शब्द के सुनने पर अथवा आख से घडेके देखने

पर उसके बनाने वाले का, उसके रंग का अर्थात् तत्सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयो का विचार करना, श्रुत ज्ञान कहलाता है ।

३—इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिये हुए, रूप वाले द्रव्य का जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते है ।

४—इन्द्रिय और मन की मदद के बिना, मर्यादा को लिये हुए संज्ञी जीवो के मनोगत भावो को जानना, मन पर्याय ज्ञान कहा जाता है ।

५—संसार के भूत भविष्य तथा वर्तमान काल के संपूर्ण पदार्थो का युगपत् (एक साथ) जानना, केवल ज्ञान कहा जाता है ।

आदि के दो ज्ञान मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान, निश्चय नयसे परोक्ष ज्ञान है और व्यवहार नयसे प्रत्यक्ष ज्ञान ।

अन्त के तीन ज्ञान-अवधि ज्ञान, मन पर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष है । केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष कहते है और अवधि ज्ञान तथा मन पर्ययज्ञान को देश प्रत्यक्ष ।

आदि के दो ज्ञानो मे इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रहती है किन्तु अन्त के तीन ज्ञानो मे इन्द्रिय, मन की अपेक्षा नही रहती ।

व्यञ्जनावग्रह—अव्यक्त ज्ञानरूप अर्थावग्रह से पहले होने वाला अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान, व्यञ्जनावग्रह कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि इन्द्रियो का पदार्थ के साथ जब सम्बन्ध होता है तब "किमपीदम्" (यह कुछ है) ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे अर्थावग्रह कहते है । उससे पहले होने वाला, अत्यन्त अस्पष्ट ज्ञान व्यञ्जनावग्रह कहा जाता है । यह व्यञ्जनावग्रह पदार्थ की सत्ता के ग्रहण करने पर होता है अर्थात् प्रथम सत्ता की प्रतीति होती है बाद मे व्यञ्जनावग्रह ।

स्पर्शनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह—स्पर्शन-इन्द्रिय के द्वारा जो

अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान होता है, वह स्पर्शनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह है। इसी प्रकार तीनो इन्द्रियो मे होने वाले व्यञ्जनावग्रहो को भी समझना चाहिये।

व्यञ्जनावग्रह का जघन्य काल, आवलिका के असख्यातवे भाग जितना है और उत्कृष्ट काल श्वासोच्छ्वास पृथक्त्व अर्थात् दो श्वासोच्छ्वास से लेकर नव श्वासोच्छ्वास तक है।

मति ज्ञान के शेष भेद तथा श्रुत ज्ञान के उत्तर भेदो की सख्या —

अत्थुग्गह ईहावायधारणा करणमाणसेहि छहा ।
इय अट्ठवीसभेयं चउदसहा वीसहा व सुयं ॥५॥

(अत्थुग्गहईहावाय धारण) अर्थावग्रह, ईहा, अपाय और धारण, ये प्रत्यक, (करणमाणसेहि) करण अर्थात् पाच इन्द्रिया और मन से होते है इसलिये (छहा) छ प्रकार है (इय) इस प्रकार मति ज्ञान के (अट्ठवीसभेय) अट्ठाईस भेद हुये (सुय) श्रुतज्ञान (चउदसहा) चौदह प्रकार का (व) अथवा (वीसहा) वीस प्रकार का है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मति के अट्ठाईस भेदो मे से चार भेद पहले कह चुके है। अब शेष चौवीस भेद यहा दिखलाते है — १ अर्थावग्रह, २ ईहा, ३ अपाय और ४ धारणा, ये चार, मति ज्ञान के भेद है। ये चारो, पाचो इन्द्रियो से तथा मन से होते है, इसलिये प्रत्येक के छ २ भेद हुये। छ को चार से गुणने पर चौवीस सख्या हुई। श्रुतज्ञान के चौदह भेद होते है और बीस भेद भी होते है।

१—पदार्थ के अव्यक्त ज्ञान को अर्थावग्रह कहते है, जैसे 'यह कुछ है।' अर्थावग्रह मे भी पदार्थ के वर्ण गन्ध आदि का ज्ञान

नहीं होता। इसके छह भेद हैं–१ स्पर्शनेन्द्रिय अर्थावग्रह, २ रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह, ३ घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह, ४ चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह, ५ श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह और ६ मननोइन्द्रिय अर्थावग्रह। अर्थावग्रह का काल प्रमाण एक समय है।

२–अवग्रह से जाने हुये पदार्थ के विषय में धर्म-विषयक विचारणा को ईहा कहते है, जैसे कि 'यह खम्भा ही होना चाहिये, मनुष्य नहीं।' ईहा के भी छह भेद हैं –स्पर्शनेन्द्रिय ईहा, रसनेन्द्रिय ईहा इत्यादि। इस प्रकार आगे अपाय और धारणा के भेदों को समझना चाहिये। ईहा का काल, अन्तर्मुहूर्त है।

३–ईहा से जाने हुये पदार्थ के विषय में 'यह खम्भा ही है, मनुष्य नहीं' इस प्रकार के धर्म विषयक निश्चयात्मक ज्ञान को अपाय कहते हैं। अपाय और अवाय दोनों का मतलब एक ही है। अपाय का काल-प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।

४–अपाय से जाने हुये पदार्थ का कालान्तर में विस्मरण न हो ऐसा जो दृढ ज्ञान होता है उसे धारणा कहते हैं अर्थात् अपाय से जाने हुये पदार्थ का कालान्तर में स्मरण हो सके, इस प्रकार के संस्कार वाले ज्ञान को धारणा कहते है। धारणा का काल प्रमाण संख्यात तथा असंख्यात वर्षों का है।

मति ज्ञान को अभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते है। जाति स्मरण अर्थात् पूर्व जन्म का स्मरण होना, यह भी मति ज्ञान ही है। ऊपर कहे हुये अट्ठाईस प्रकार के मति ज्ञान के हर एक के बारह-बारह भेद होते है, जैसे–१ बहु, २ अल्प, ३ बहुविध, ४ अल्पविध, ५ क्षिप्र, ६ चिर, ७ अनिश्रित, ८ निश्रित, ९ सन्दिग्ध १० असन्दिग्ध, ११ ध्रुव और १२ अध्रुव। शंख, नगारे आदि कई बाजों के शब्दों में से क्षयोपशम की विचित्रता के कारण, १

कोई जीव बहुत से वाद्यो के पृथक्-पृथक् शब्द सुनता है, कोई २ जीव अल्प शब्द को सुनता है, ३ कोई जीव प्रत्येक वाद्य के शब्द के, तार मन्द्र आदि बहुत प्रकार के विशेषो को जानता है, ४ कोई साधारण तौर से एक ही प्रकार के शब्द को सुनता है, ५ कोई जल्दी से सुनता है, ६ कोई देरी से सुनता है, ७ कोई ध्वजा के द्वारा देव मन्दिर को जानता है, ८ कोई बिना पताका के ही उसे जानता है, ९ कोई सशय सहित जानता है, १० कोई बिना सशय के जानता है, ११ किसी को जैसा पहिले ज्ञान हुआ था वैसा ही पीछे भी होता है, उसमे कोई फर्क नही होता, उसे ध्रुव ग्रहण कहते है, १२ किसी के पहले तथा पीछे होने वाले ज्ञान मे न्यूनाधिक रुप फर्क हो जाता है, उसे अध्रुवग्रहण कहते है । इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के अवग्रह, ईहा, अपाय आदि के भेद समझना चाहिये । इस तरह श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के २८ को १२ मे गुण ने पर ३३६ भेद होते है । अश्रुतनिश्रित मति ज्ञान के चार भेद है । उनको ३३६ मे मिलाने से मति ज्ञान के ३४० भेद होते है । अश्रुतनिश्रित के चार भेद—१ औत्पाति की बुद्धि, २ वैनयिकी, ३ कार्मिकी और ४ पारिणामिकी ।

(१) औत्पातिकी बुद्धि—किसी प्रसग पर, कार्य सिद्ध करने मे एकाएक प्रकट होती है ।

(२) वैनयिकी—गुरुओ की सेवा से प्राप्त होने वाली बुद्धि ।

(३) कामिकी—अभ्यास करते करते प्राप्त होने वाली बुद्धि ।

(३) परिणामिकी—दीर्घायु को बहुत काल तक ससार के अनुभव से प्राप्त होने वाली बुद्धि ।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के अट्ठाईस भेदो का यन्त्र

स्पर्शन-इंद्रिय	घ्राण इंद्रिय	रसन इंद्रिय	श्रवण इंद्रिय	चक्षु-इंद्रिय	मन-नोइंद्रिय	२८
१ व्यञ्जन अवग्रह	१ व्यञ्जन अवग्रह	१ व्यञ्जन अवग्रह	१ व्यञ्जन अवग्रह	०	०	४
२ अर्थ-अवग्रह	२ अर्थ-अवग्रह	२ अर्थ-अवग्रह	२ अर्थ-अवग्रह	१ अर्थ-अवग्रह	१ अर्थ-अवग्रह	६
३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	२ ईहा	२ ईहा	६
४ अपाय	४ अपाय	४ अपाय	४ अपाय	३ अपाय	३ अपाय	६
५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	४ धारणा	४ धारणा	६

श्रुतज्ञान के चौदह भेद —

अक्खर सन्नी सम्मं साइअं खलु सपज्जवसियं च ।
गमियं अंगपविट्ठं सत्तवि एए सपडिवक्खा ॥ ६ ॥

(अक्खर) अक्षरश्रुत, (सन्नी) संज्ञिश्रुत, (सम्म) सम्यक्श्रुत, (साईअं) सादिश्रुत (च) और (सपज्जवसियं) सपर्यवसितश्रुत (गमियं) गमिकश्रुत और (अंगपविट्ठं) अंगप्रविष्टश्रुत (एए) ये (सत्तवि) सातों श्रुत (सपडिवक्खा) सप्रतिपक्ष हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ–पहले कहा गया है कि श्रुतज्ञान के चौदह अथवा बीस भेद होते है। यहा चौदह भेदो को कहते है। गाथा मे सात भेदो के नाम दिये है, उनसे अन्य सात भेद, सप्रतिपक्ष शब्द से लिये जाते है। जैसे कि अक्षरश्रुत का प्रतिपक्षी अनक्षरश्रुत, सज्ञिश्रुत का प्रतिपक्षी असज्ञिश्रुत इत्यादि। चौदहो नाम ये है–

१ अक्षरश्रुत, २ अनक्षरश्रुत, ३ सज्ञिश्रुत, ४ असज्ञिश्रुत, ५ सम्यकश्रुत, ६ मिथ्याश्रुत, ७ सादिश्रुत, ८ अनादिश्रुत, ९ सपर्यवसितश्रुत, १० अपर्यवसितश्रुत, ११ गमिकश्रुत, १२ अगमिकश्रुत, १३ अगप्रविष्टश्रुत, और १४ अगबाह्यश्रुत।

१–अक्षर के तीन भेद हैं, १ सज्ञाक्षर, २ व्यजनाक्षर और ३ लब्ध्यक्षर। जुदी लिपिया जो लिखने के काम मे आती है उनको सज्ञाक्षर कहते है। अकार से लेकर हकार तक के वर्ण जो उच्चारण के काम मे आते है, उनको व्यजनाक्षर कहते है अर्थात् जिनका बोलने मे उपयोग होता है, वे वर्ण व्यजनाक्षर कहलाते है। सज्ञाक्षर और व्यजनाक्षर से भाव श्रुत होता है, इसलिये इन दोनो को द्रव्य श्रुत कहते है। शब्द के सुनने या रुप के देखने आदि से, अर्थ की प्रतीति के साथ २ जो अक्षरो का ज्ञान होता है, उसे लब्ध्यक्षर कहते है।

२–छीकना, चुटकी वजाना, सिर हिलाना इत्यादि सकेतोसे औरो का अभिप्राय जानना अनक्षरश्रुत है।

३–जिन पञ्चेन्द्रिय जीवो को मन है, वे सज्ञी, उनका श्रुत, सज्ञिश्रुत है।

सज्ञी का अर्थ है सज्ञा जिनको हो। सज्ञा के तीन भेद है–दीर्घकालिकी, हेतुवादोपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी।

(क) मैं अमुक काम कर चुका, अमुक काम कर रहा हूँ और अमुक काम करुगा, इस प्रकार का भूत, वर्तमान औ भवि-

गत् का ज्ञान जिसमें होता है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा है। संज्ञि श्रुत में जो संज्ञी लिये जाते हैं, वे दीर्घकालिकी संज्ञा वाले हैं। यह संज्ञा, देव नारक तथा गर्भज तिर्यञ्च मनुष्यों को होती है।

(ख) अपने शरीर के पालन के लिये इष्ट वस्तु में प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तु में निवृत्ति के लिये उपयोगी, मात्र वर्तमान कालिक ज्ञान जिससे होता है, वह हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा है। यही संज्ञा द्वीन्द्रिय आदि असंज्ञी जीवों को होती है।

(ग) दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा, चतुर्दशपूर्वधर को होती है।

४–जिन जीवों को मन ही नहीं है, वे असंज्ञी हैं, उनका श्रुत, असंज्ञीश्रुत कहा जाता है।

५–सम्यक्श्रुत–सम्यग्दृष्टि जीवों का श्रुत सम्यक्श्रुत है।

६–मिथ्यादृष्टि जीवों का श्रुत, मिथ्याश्रुत है।

७–सादिश्रुत–जिसका आदि हो वह सादिश्रुत है।

८–अनादिश्रुत–जिसका आदि न हो, वह अनादिश्रुत है।

९–सपर्यवसितश्रुत–जिसका अन्त हो, वह सपर्यवसित-श्रुत है।

१०–अपर्यवसितश्रुत–जिसका अन्त न हो, वह अपर्य-वसितश्रुत है।

११–गमिकश्रुत–जिसमें एक सरीखे पाठ हों वह गमिक-श्रुत है। जैसे दृष्टिवाद।

१२–अगमिकश्रुत–जिसमें एक सरीखे पाठ न हों, वह अगमिकश्रुत है। जैसे कालिकश्रुत।

१३–अङ्गप्रविष्टश्रुत–आचाराङ्ग आदि बारह अङ्गों के ज्ञान को अङ्गप्रविष्टश्रुत कहते हैं।

१४–अङ्गबाह्यश्रुत–द्वादशाङ्गी से जुदा, दशवैकालिक-उत्तराध्ययन–प्रकटणादिका ज्ञान, अङ्गबाह्यश्रुत कहा जाता है।

सादिश्रुत, अनादिश्रुत, सपर्यवसितश्रुत और अपर्यवसित-श्रुत–ये प्रत्येक, द्रव्य–क्षेत्र काल–भाव की अपेक्षा से चार-चार प्रकार के है। जैसे–द्रव्य को लेकर एक जीव की अपेक्षा से श्रुत-ज्ञान, सादि–सपर्यवसित है अर्थात् जब जीव को सम्यक्त्व प्राप्त हुआ, तब साथ मे श्रुतज्ञान भी हुआ, और जब वह सम्यक्त्व का वमन (त्याग) करता है तब, अथवा केवली होता है तब श्रुत-ज्ञान का अन्त हो जाता है। इस प्रकार एक जीव की अपेक्षा मे श्रुतज्ञान, सादि-सान्त है।

सब जीवो की अपेक्षा से श्रुतज्ञान अनादि–अनन्त है क्योकि ससार मे पहले पहल अमुक जीव को श्रुतज्ञान हुआ तथा अमुक जीव के मुक्त होने से श्रुतज्ञान का अन्त होगा, ऐसा नही कहा जा सकता अर्थात् प्रवाह रूप से सब जीवो की अपेक्षा से श्रुतज्ञान अनादि-अनन्त है।

क्षेत्र की अपेक्षा से श्रुतज्ञान, सादि-सान्त तथा अनादि-अनन्त है। जब भरत तथा ऐरावत क्षेत्र मे तीर्थ की स्थापना होती है, तब से द्वादशाङ्गी रूप श्रुत की आदि और जब तीर्थ का विच्छेद होता है, तब श्रुत का भी अन्त हो जाता है, इस प्रकार श्रुतज्ञान सादिसान्त हुआ। महाविदेह क्षेत्र मे तीर्थ का विच्छेद कभी नही होता इसलिये वहा श्रुतज्ञान, अनादि-अनन्त है।

काल की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि-सान्त और अनादि-अनन्त है। उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सान्त है, क्योकि तीसरे आरे के अन्त मे और चौथे तथा पाचवें आरे मे रहता है और छठे आरे मे नष्ट हो जाता है। नो उत्सर्पिणी-नो अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान अनादि

अनत है। महाविदेह क्षेत्र मे नोउत्सर्पिणी-नोअवसर्पिणी काल है अर्थात् उक्त क्षेत्र उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीरूप काल का विभाग नही है। भाव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सान्त तथा अनादि अनन्त है। भव्य की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि सांत तथा अभव्य की अपेक्षा से कुश्रुत, अनादि-अनत है। भव्यत्व और अभव्यत्व दोनो जीव के परिणामिक भाव है। यहा श्रुत शब्द से सम्यक्श्रुत तथा कुश्रुत दोनो का अर्थ एक ही है। इसी तरह अपर्यवसित और अनत दोनो अर्थ का एक है।

श्रुतज्ञान के बीस भेद—

पज्जय अक्खर पय संघाया पडिवत्ति तहय अणुओगो।
पाहुडपाहुड पाहुड वत्थू पुव्वा य ससमासा ॥ ७ ॥

(पज्जय) पर्यायश्रुत, (अक्खर) अक्षरश्रुत, (पय) पदश्रुत, (संघाय) संघातश्रुत, (पडिवत्ति) प्रतिपत्तिश्रुत, (तहय) इसी प्रकार (अणुओगो) अनुयोगश्रुत, (पाहुडपाहुड) प्राभृतप्राभृतश्रुत, (पाहुड) प्राभृतश्रुत, (वत्थू) वस्तुश्रुत (य) और (पुव्व) पूर्वश्रुत, ये दसो (ससमासा) समास सहित है। अर्थात् दसो के साथ "समास" शब्द को जोडने से दूसरे दस भेद भी होते है ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस गाथा मे श्रुतज्ञान के बीस भेद कहे गये है। उनके नाम—१ पर्यायश्रुत, २ पर्यायसमासश्रुत, ३ अक्षरश्रुत ४ अक्षरसमासश्रुत, ५ पदश्रुत, ६ पदसमासश्रुत ७ संघातश्रुत ८ संघातसमासश्रुत, ९ प्रतिपत्तिश्रुत, १० प्रतिपत्तिसमासश्रुत, ११ अनुयोगश्रुत, १२ अनुयोगसमासश्रुत १३ प्राभृत-प्राभृतश्रुत १४ प्राभृतप्राभृतसमासश्रुत, १५ प्राभृतश्रुत, १६ प्राभृतसमास–

श्रुत, १७ वस्तुश्रुत, १८ वस्तुसमासश्रुत, १९ पूर्वश्रुत, २० पूर्वसमासश्रुत।

१–उत्पत्ति के प्रथम समय मे, लब्धिअपर्याप्त, सूक्ष्म निगोद के जीव को जो कुश्रुत का अंश होता है, उससे दूसरे समय मे ज्ञान का जितना अंश बढता है, वह पर्यायश्रुत है।

२–उक्त पर्यायश्रुत के समुदाय को अर्थात् दो, तीन, आदि सख्याओ को पर्यायसमासश्रुत कहते है।

३–आकार आदि लब्ध्यक्षरोमे से किसी एक अक्षर को अक्षरश्रुत कहते है।

४–लब्ध्यक्षरो के समुदाय को अर्थात् दो, तीन आदि सख्याओ को अक्षरसमासश्रुत कहते हैं।

५–जिस अक्षर समुदाय से पूरा अर्थ मालूम हो वह पद, और उसके ज्ञान को पदश्रुत कहते है।

६–पदो के समुदाय का ज्ञान पदसमासश्रुत है।

७–गति आदि चौदह मार्गणाओ मे से, किसी एक मार्गणा के एक देश के ज्ञान को सङ्घातश्रुत कहते है। जैसे गति मार्गणा के चार अवयव है, देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति और नारकगति। इनमे से एक का ज्ञान सघातश्रुत है।

८–किसी एक मार्गणा के अनेक अवयवो का ज्ञान, सघातसमासश्रुत है।

९–गति, इन्द्रिय आदि द्वारो मे से किसी एक द्वार के जरिये समस्त ससार के जीवो को जानना, प्रतिपत्तिश्रुत है।

१०–गति आदि दो चार द्वारो के जरिये जीवो का ज्ञान प्रतिपत्तिसमास श्रुत है।

११–'सतपयपरुवणया दव्वपमाण च' इस गाथा मे कहे हुये

अनुयोग द्वारों में से किसी एक के द्वारा जीवादि पदार्थों को जानना अनुयोग श्रुत है।

१२–एक से अधिक दो तीन अनुयोग द्वारों का ज्ञान, अनुयोगसमासश्रुत है।

१३–दृष्टिवाद के अन्दर प्राभृत प्राभृत नामक अधिकार हैं, उनमें से किसी एक का ज्ञान प्राभृत-प्राभृत श्रुत है।

१४–दो चार प्राभृत-प्राभृतों के ज्ञान को प्राभृत-प्राभृतसमासश्रुत कहते हैं।

१५–जिस प्रकार कई उद्देश्यों का एक अध्ययन होता है, वैसे ही कई प्राभृतप्राभृतों का एक प्राभृत होता है, उसका एक का ज्ञान, प्राभृतश्रुत है।

१६–एक से अधिक प्राभृतों का ज्ञान, प्राभृतसमास श्रुत है।

१७–कई प्राभृतों का एक वस्तु नामक अधिकार होता है। उसका एक का ज्ञान, वस्तुश्रुत है।

१८–दो चार वस्तुओं का ज्ञान, वस्तुसमासश्रुत है।

१९–अनेक वस्तुओं का एक पूर्व होता है। उसका एक का ज्ञान, पूर्वश्रुत है।

२०–दो चार यावत् चौदह पूर्वों का ज्ञान, पूर्वसमासश्रुत है।

चौदह पूर्वों के नाम ये हैं—१ उत्पाद, २ आग्रायणीय, ३ वीर्यप्रवाद, ४ अस्तिप्रवाद ५ ज्ञानप्रवाद, ६ सत्यप्रवाद ७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ९ प्रत्याख्यानप्रवाद, १० विद्याप्रवाद, ११ कल्याण, १२ प्राणवाद, १३ क्रियाविशाल और १४ लोकबिन्दुसार। अथवा द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान चार प्रकार का है। सामान्य से द्रव्य से, श्रुतज्ञानी उपयोग-पूर्वक सब द्रव्य, सब क्षेत्र, सब काल और सब भावों को जानते हैं।

अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान के भेद —

अणुगामि वड्ढमाणय पडिवाईयरविहा छहा ओही।
रिउमइविउलमई मणनाणं केवलमिगविहाणं ॥८॥

(अणुगामि) अनुगामि, (वड्ढमाणय) वर्धमान, (पडिवाइ) प्रतिपाति तथा (इयरविहा) दूसरे प्रतिपक्षि–भेदो से (ओही) अवधिज्ञान, (छहा) छ प्रकार का है। (रिउमइ) ऋजुमति और (विउलमई) विपुलमति यह दो, (मणनाण) मन पर्यवज्ञान है। (केवलमिगविहाण) केवलज्ञान एक ही प्रकार का है अर्थात् उसके भेद नही हैं ॥८॥

भावार्थ—अवधिज्ञान दो प्रकार का है–भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। जो अवधिज्ञान जन्म से ही होता है उसे भवप्रत्यय कहते है और वह देवो तथा नारक जीवों को होता है। किन्ही-किन्ही मनुष्यो तथा तिर्यञ्चो को जो अवधिज्ञान होता है, वह गुण-प्रत्यय कहलाता है। तपस्या, ज्ञान की आराधना आदि कारणो से गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान होता है। इस गाथा मे गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान के छ भेद दिखलाये है —१ अनुगामि, २ अननुगामि, ३ वर्धमान, ४ हीयमान, ५ प्रतिपाति और ६ अप्रतिपाति।

१–एक जगह से दूसरी जगह जाने पर भी जो अवधिज्ञान, आख के समान ही साथ ही रहे, उसे अनुगामि कहते है। तात्पर्य यह है कि जिस जगह जीव मे यह ज्ञान प्रकट होता है, वह जीव उस जगह से, सख्यात या असख्यात योजन के क्षेत्रो को चारो तरफ जैसे देखता है, उसी प्रकार दूसरी जगह जाने पर भी उतने ही क्षेत्रो को देखता है।

२–जो अनुगामि से उल्टा हो अर्थात् जिस जगह अवधि-ज्ञान प्रकट हुआ हो, वहा से अन्यत्र जाने पर वह ज्ञान नही रहे ।

३–जो अवधिज्ञान, परिणाम विशुद्धि के साथ, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिए दिन-दिन बढे उसे वर्धमान अवधि कहते है ।

४–जो अवधिज्ञान परिणामो की अशुद्धि से दिन-दिन घट-ता होता जाय, उसे हीयमान अवधि कहते है ।

५–जो अवधिज्ञान, फूक से दीपक के प्रकाश के समान एकाएक गायब हो जाय-चला जाय, उसे प्रतिपाति अवधि कहते है ।

६–जो अवधिज्ञान केवल ज्ञान से, अन्तर्मुहूर्त पहले प्रकट होता है, और बाद केवलज्ञान मे समा जाता है उसे अप्रतिपाति अवधि कहते है । इसी अप्रतिपाति को परमावधि भी कहते है । अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अवधिज्ञान चार प्रकार का है ।

द्रव्य–अवधिज्ञानी जघन्य से अर्थात कम से कम अनन्त रूपि द्रव्यो को जानते और देखते है । उत्कृष्ट से अर्थात् अधिक से अधिक सम्पूर्ण रूपि द्रव्यो को जानते तथा देखते है ।

क्षेत्र–अवधिज्ञानी कम से कम अगुल के असख्यातवे भाग जितने क्षेत्र के द्रव्यो को जानते तथा देखते है । अधिक से अधिक अलोक मे, लोक-प्रमाण असख्य खण्डो को जान सकते तथा देख सकते है ।

अलोक मे कोई पदार्थ नही है तथापि [illegible] कहा है कि अलोक मे लोकप्रमाण असख्यात [illegible] जितने क्षेत्र [illegible] है उतने क्षेत्र के रूपि-द्रव्यो को जानते तथा देखते हैं

शक्ति अवधिज्ञानी मे होती है । अवधिज्ञान के सामर्थ्य को दिखलाने के लिए असत्कल्पना की गई है ।

काल–कम से कम, अवधिज्ञानी आवलिका के असंख्यातवे भाग जितने काल के रुपि द्रव्यो को जानता तथा देखता है और अधिक से अधिक, असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण, अतीत और अनागत काल के रुपिपदार्थों को जानता तथा देखता है ।

भाव–कम से कम, अवधिज्ञानी रुपिद्रव्य के अनन्त भावो को–पर्यायो को जानता तथा देखता है । और अधिक से अधिक भी अनन्त भावो को जानता तथा देखता है । अनन्त के अनन्त भेद होते हैं, इसलिए जघन्य और उत्कृष्ठ अनत मे फर्क समझना चाहिए । उक्त अनन्त भाव, सम्पूर्ण भावो के अनन्तवे भाग जितना है । जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के मति तथा श्रुत को मतिअज्ञान तथा श्रुतअज्ञान कहते है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के अवधि को विभग कहते है ।

मन पर्यायज्ञान के दो भेद है,–१ऋजुमति और २ विपुलमति ।

१–दूसरे के मन मे स्थित पदार्थ के सामान्य स्वरुप को जानना अर्थात् इसने घडे को लाने तथा रखने का विचार किया है, इत्यादि साधारण रुप से जानना, ऋजुमति ज्ञान कहलाता है ।

२–दूसरे के मन मे स्थित पदार्थ के अनेक पर्यायो को जानना अर्थात् इसने जिस घडे का विचार किया है वह अमुक धातु का है, अमुक जगह का बना हुआ है, अमुक रग का है, इत्यादि विशेष अवस्थाओ के ज्ञान को विपुलमतिज्ञान कहते है । अथवा द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा मन पर्यायज्ञान के चार भेद हैं ।

द्रव्यसे-ऋजुमति मनोवर्गणा के अनन्त प्रदेशवाले अनन्त स्कन्धों को देखता है और विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा अधिक प्रदेशों वाले स्कन्धों को अधिक स्पष्टता से देखता है।

क्षेत्रसे-ऋजुमति तिरछी दिशा मे ढाई द्वीप, ऊर्ध्व दिशा मे (ऊपर) ज्योतिश्चक्र के ऊपर का तल और अधोदिशा मे (नीचे) कुबड़ी विजय तक के सन्नी जीव के मनोगत भावो को देखता है। विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा ढाई अगुल अधिक तिरछे क्षेत्र के सन्नी जीव के मनोगत भावो को देखता है।

कालसे-ऋजुमति पल्योपम के असंख्यातवे भाग जितने भूतकाल तथा भविष्य काल के मनोगत भावो को देखता है। विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक काल के, मन मे, चिन्तित, या मन मे जिनका चिन्तन होगा, ऐसे पदार्थों को देखता है।

भावसे-ऋजुमति मनोगत द्रव्य के असंख्यात पर्यायों को देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक पर्यायों को देखता है।

केवलज्ञान मे किसी प्रकार का भेद नहीं है। सम्पूर्ण द्रव्य और उनके सम्पूर्ण पर्यायों को केवलज्ञानी एक ही समय मे जान लेता है। अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान का कोई भी परिवर्तन उनसे छिपा नहीं रहता। इसे निरावरण ज्ञान और क्षायिक ज्ञान भी कहते है। मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान मनुष्यगति मे ही होते है, अन्य मे नहीं। माता मरुदेवी को केवलज्ञान हुआ। [illegible] यह भारत मे सर्वप्रथम थी।

[illegible] के २८, [illegible] ३४ [illegible]

अवधिज्ञान के ६, मन पर्याय के २, तथा केवलज्ञान का १, इनसब भेदो को मिलाने से, पाचो ज्ञानो के ५१ अथवा ५७ भेद होते है।

अव उनके आवरणो को कहते है —

एसि ज आवरणं पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं।
दसणचउ पणनिद्दा वित्तसमं दंसणावरणं ॥ ९ ॥

(चक्खुस्स) आख के (पडुव्व) पट-पट्टी के समान, (एसि) इन मति आदि पाच ज्ञानो का (ज) जो (आवरण) आवरण है, (त) वह (तयावरण) उनका आवरण कहा जाता है अर्थात् मतिज्ञान का आवरण, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञान का आवरण, श्रुतज्ञानावरण, इस प्रकार दूसरे आवरणो को भी समझाना चाहिये। (दमणावरण) दर्शनावरण कर्म, (वित्तसम) वेत्री-दरवान के सदृश है। उसके नव भेद हैं, सो इस प्रकार-(दसणचउ) दर्शनावरण-चतुष्क और (पणनिद्दा) पाच निद्राए ॥ ९ ॥

भावार्थ–ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म को ज्ञानावरण अथवा ज्ञानावरणीय कहते है। जिस प्रकार आख पर कपडे की पट्टी लपेटने मे वस्तुओ के देखने मे रुकावट होती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण के प्रभाव से आत्मा को, पदार्थो के जानने मे रुकावट पहुचती है। परन्तु ऐसी रुकावट नही होती कि जिससे आत्मा को किसी प्रकार का ज्ञान ही न हो। चाहे जैसे घने वादलो से सूर्य घिर जाय तो भी उसका कुछ न कुछ प्रकाश, जिससे कि रात दिन का भेद समझा जा सकता है, जरुर वना रहता है। इसी प्रकार कर्मो के चाहे जैसे गाढ आवरण क्यो न हो, आत्मा को कुछ न कुछ ज्ञान होता ही रहता है। आख की पट्टी का जो दृष्टान्त दिया गया है उसका अभिप्राय यह है कि, पतले कपडे की पट्टी होगी तो कुछ ही कम दिखेगा, गाढे कपडे की पट्टी होगी तो वहुत

कम दिखेगा उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म्मों की आच्छादन करने की शक्ति जुदी २ होती है ।

१-भिन्न-भिन्न प्रकार के मति ज्ञानो के आवरण करने वाले भिन्न-भिन्न कर्मों को मतिज्ञानावरणीय कहते है । तात्पर्य यह है कि, पहले मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद कहे गये और दूसरी अपेक्षा से तीन सौ चालीस भेद भी कहे गये । उन सबो के आवरण करने वाले कर्म भी भिन्न-भिन्न है, उनका "मतिज्ञानावरण" इस एक शब्द से ग्रहण होता है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ।

२-श्रुतज्ञान के चौदह अथवा बीस भेद कहे गये है, उनके आवरण करने वाले कर्मों को श्रुत ज्ञानावरणीय कहते है ।

३-पूर्वोक्त भिन्न-भिन्न प्रकार के अवधिज्ञानो के आवरण करने वाले कर्मों को अवधिज्ञानावरणीय कहते है ।

४-मनःपर्यायज्ञान के आवरण करने वाले कर्मों को मनःपर्याय-ज्ञानावरणीय कहते है ।

५-केवलज्ञान के आवरण करने वाले कर्मों को केवलज्ञानावरणीय कहते है । इन पाचो ज्ञानावरणो मे केवलज्ञानावरण कर्म सर्वघाती है और दूसरे चार देशघाती । दर्शनावरणीय कर्म द्वारपाल के समान है । जिस प्रकार द्वारपाल, जिस पुरुष से नाराज है, उसको राजा के पास जाने नही देता, चाहे राजा उसको देखना भी चाहे । इसी प्रकार दर्शनावरण कर्म जीव रूपी राजा के पदार्थो के देखने की शक्ति मे रुकावट पहुचाता है । चक्षुदर्शनावरण आदि चार और पाच निद्राओ को मिलाकर दर्शनावरणीय के नव भेद होते है, सो आगे दिखलावेंगे ।

दर्शनावरणीयनिरूपण-

चक्खूदिट्ठिअचक्खूसेसिदियओहिकेवलेहि च ।

दसणमिह सामन्न तस्सावरण तयं चउहा ॥१०॥

(चक्खुदिट्ठि) चक्षु का अर्थ है दृष्टि अर्थात् आख, (अचक्खु नोमदिय) अचक्षु का अर्थ है शेष इन्द्रिया अर्थात् आख को छोड कर अन्य चार इन्द्रिया (ओहि) अवधि और (केवलेहि) केवल इन मे (दसण) दर्शन होता है जिसे कि (इह) इस शास्त्र मे (सामन्न) सामान्य उपयोग कहते है। (तस्सावरण) उसका आवरण, (तय चउहा) उन दर्शनो के चार नामो के भेद से चार प्रकार का है। (च) "केवलेहि च" इस 'च' शब्द से, शेष इन्द्रियो के साथ मन के ग्रहण करने की सूचना दी गई है।

भावार्थ—दर्शनावरण-चतुष्क का अर्थ है दर्शनावरण के चार भेद, वे ये है—१ चक्षुर्दर्शनावरण, २ अचक्षुर्दर्शनावरण, ३ अवधिर्दर्शनावरण और ४ केवलदर्शनावरण।

१—आख के द्वारा जो पदार्थों के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उसे चक्षुर्दर्शन कहते है। उस सामान्य ग्रहण को रोकने वाला कर्म चक्षुर्दर्शनावरण है।

२—आख को छोडकर त्वचा, जीभ, नाक, कान और मन से जो पदार्थों के सामान्य धर्म का प्रतिभास होता है, उसे अचक्षुर्दर्शन कहते है। उसका आवरण, अचक्षुर्दर्शनावरण है।

३—इन्द्रिय और मन की सहायता के विना ही आत्मा को रूपिद्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, उसे अवधिदर्शन कहते है। उसका आवरण अवधिदर्शनावरण है।

४—ससार के सम्पूर्ण पदार्थो का जो सामान्य अवबोध होता है उसे केवलदर्शन कहते है। उसका आवरण केवलदर्शनावरण कहा जाता है।

विशेष—चक्षुर्दर्शनावरण कर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवो को जन्म से ही आखे नही होती। चतुरिन्द्रिय

और चक्षुरिन्द्रिय जीवों की आंखें उक्त कर्म के उदय से नष्ट हो जाती हैं अथवा रतौंधी आदि के हो जाने से उनसे कम दीख पड़ता है। इसी प्रकार, शेष इन्द्रियों और मन वाले जीवों के विषय में भी उन इन्द्रियों का और मन का जन्म से ही न होना अथवा जन्म से प्राप्त भी कमजोर, अस्पष्ट होना, पहिले के समान समझना चाहिए। जिस प्रकार अवधिदर्शन माना गया है, इसी प्रकार मनःपर्यायदर्शन क्यों नहीं माना गया, ऐसा सन्देह करना इसलिए ठीक नहीं है कि मनःपर्यायज्ञान, क्षयोपशम के प्रभाव से विशेष धर्मों को ही ग्रहण करते हुए उत्पन्न होता है, सामान्य को नहीं।

पांच निद्राओं के वर्णन में आदि की चार निद्रायें —

सुहपडिबोहा निद्दा निद्दानिद्दा य दुक्खपडिबोहा ।
पयला ठिओवविट्ठस्स पयलपयला य चंकमओ ॥११॥

(सुहपडिबोहा) जिसमें बिना परिश्रम के प्रतिबोध हो, वह (निद्दा) निद्रा, (य) और (दुक्खपडिबोहा) जिसमें कष्ट से प्रतिबोध हो वह (निद्दानिद्दा) निद्रानिद्रा, (ठिओवविट्ठस्स) स्थित और उपविष्ट को (पयला) प्रचला होती है; (चंकमओ) चंक्र-मित पुरुष को (पयलापयला) प्रचलाप्रचला होती है।

२–जो सोया हुआ जीव, बडे जोर से चिल्लाने या ह
मे जोर से हिलाने पर बडी मुश्किल से जागता है, उसकी नीद
निद्रानिद्रा कहते है, जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आवे, उ
कर्म का भी नाम 'निद्रानिद्रा' है।

३–खडे-खडे या बैठे-बैठे जिसको नीद आती है, उस
नीद को प्रचला कहते है, जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आ
उस कर्म का भी नाम 'प्रचला' है।

४–चलते फिरते जिसको नीद आती है, उसकी नीद व
प्रचलाप्रचला कहते है, जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आवे, उ
कर्म का भी नाम 'प्रचलाप्रचला' है।

स्त्यानर्द्धि का स्वरूप और वेदनीय कर्म का स्वरूप —

दिणचिंतियत्थकरणी, थीणद्धी अद्धचक्किअद्धबला।
महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥१२॥

(दिणचिंतियत्थकरणी) दिन मे सोचे हुए काम को कर
वाली निद्रा को (थीणद्धी) स्त्यानर्द्धि कहते है, इस निद्रा मे जी
को (अद्धचक्किअद्धबला) अर्द्धचक्री अर्थात् वासुदेव, उसका आध
बल होता है। (वेयणिय) वेदनीय कर्म, (महुलित्तखग्ग धारा
लिहण व) मधु से लिप्त, खड्ग की धारा को चाटने के समान है
और यह कर्म (दुहा उ) दो ही प्रकार का है ॥१२॥

भावार्थ—स्त्यानर्द्धि का दूसरा नाम स्त्यानगृद्धि भी है
जिसमे आत्मा की शक्ति, पिण्डित अर्थात् इकट्ठी होती है उसे
स्त्यानर्द्धि कहते है।

५–जो जीव, दिन मे अथवा रात मे सोचे हुये काम को नीद
की हालत मे कर डालता है, उसकी नीद को स्त्यानगृद्धि कहते है,

जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आती है, उस कर्म का भी नाम स्त्यानगृद्धि है।

वज्रऋषभनाराच सहनन वाले जीव को जव इस स्त्यानर्द्धि कर्म का उदय होता है, तव उसे वासुदेव का आधा वल हो जाता है। यह जीव, मरने पर अवश्य नरक जाता है।

तीसरा कर्म वेदनीय है। इसे वेद्य कर्म भी कहते है। इसका स्वभाव, तलवार की शहद लगी हुई धारा को चाटने के समान है। वेदनीय कर्म के दो भेद है–१ सात वेदनीय और २ असातवेदनीय। तलवार की धार मे लगे हुये शहद को चाटने के समान सात वेदनीय है और खड्ग धारा से जीभ के कटने के असातवेदनीय है।

१–जिस कर्म के उदय से आत्मा को विषय सम्वधी सुख का अनुभव होता है, वह सातवेदनीय कर्म है।

२–जिस कर्म के उदय से, आत्मा को अनुकूल विषयो की अप्राप्ति से अथवा प्रतिकूल विषयो की प्राप्ति से दु ख का अनुभव होता है, वह असातवेदनीय कर्म है।

आत्मा को जो अपने स्वरुप के सुख का अनुभव होता है। वह किसी भी कर्म के उदय से नही। मधुलिप्त खड्गधारा का दृष्टान्त देकर यह सूचित किया गया है कि वैषयिक सुख अर्थात् पौद्गलिक सुख, दु ख से मिला हुआ ही है।

चार गतियो सात मे असात का स्वरुप तथा मोहनीय कर्म–

ओसन्नं सुरमणुए सायमसायं तु तिरियनरएसु।
मज्जं व मोहणीयं दुविह दसणचरणमोहा ॥ १३ ॥

(ओसन्न) प्राय (सुरमणुए) देवो और मनुष्यो मे (साय) सात वेदनीय कर्म का उदय होता है। (तिरियनरएसु)

तिर्यचो और नारको मे (तु) तो प्राय (असाय) असातवेदनीय कर्म का उदय होता है। (मोहणीय) मोहनीय कर्म, (मज्जव) मद्य के सदृश है, और वह (दसणचरणमोहा) दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनी को लेकर (दुविह) दो प्रकार है।

भावार्थ–देवो और मनुष्यो को प्राय सातवेदनीय का उदय रहता है। 'प्राय' शब्द से यह सूचित किया जाता है कि उनको असातवेदनीय का भी उदय हुआ करता है, परन्तु कम देवो को अपनी देवगति से च्युत होने के समय, अपनी ऋद्धि की अपेक्षा दूसरे देवो की विशाल ऋद्धि को देखने से जब ईर्ष्या का प्रादुर्भाव होता है तब, तथा और-और समयो मे भी असातवेद–नीय का उदय हुआ करता है। इसी प्रकार मनुष्यो को गर्भवास, स्त्री-पुत्र वियोग, शीत उष्ण आदि से दुःख हुआ करता है।

तिर्यञ्च जीवो तथा नारक जीवो को प्राय असातवेदनीय का उदय हुआ करता है। प्राय शब्द से सूचित किया गया है कि उनको सातवेदनीय का भी उदय हुआ करता है, परन्तु कम। तिर्यञ्चो मे कई हाथी घोड कुत्ते आदि जीवो का आदर के साथ पालन पोषण किया जाता है। इसी प्रकार नारक जीवो को भी तीर्थङ्करो के जन्म आदि कल्याणको के समय सुख का अनुभव हुआ करता है।

सासारिक सुख का देवो को विशेष अनुभव होता है और मनुष्यो को उनसे कम। दुःख का विशेष अनुभव, नारक तथा निगोद के जीवो को होता है उनकी अपेक्षा तिर्यञ्चो को कम।

चौथा कर्म मोहनीय है। उसका स्वभाव मद्य के समान है। जिस प्रकार मद्य के नशे मे मनुष्य को अपने हित अहित की पहिचान नही रहती, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से

(१) कोदो (कोद्रव) एक प्रकार का अन्न है, जिसके खाने से नशा होता है। परन्तु उस अन्न का भूसा निकाला जाय और छाछ आदि से शोधा जाय तो वह नशा नही करता। इसी प्रकार जीव को, हित-अहित की परीक्षा मे विथल करने वाले मिथ्यात्व-मोहनीय के पुद्गल है। उसमे सर्वघाती रस होता है। द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतु स्थानक रस, सर्वघाती हैं। जीव अपने विशुद्ध परिणाम के बल से उन पुद्गलो के सर्वघाती रस को अर्थात् शक्ति को घटा देता है, सिर्फ एकस्थानक रस बच जाता है। इन एकस्थानक रस वाले मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गलो को ही सम्यक्त्वमोहनीय कहते है। यह कर्म शुद्ध होने के कारण, तत्वरुचि रूप सम्यक्त्व मे बाधा नही पहुचाता, परन्तु इसके उदय से आत्म स्वाभाव रूप औपशमिकसम्यक्त्व तथा क्षायिकसम्यक्त्व होने नही पाता और सूक्ष्म पदार्थो के विचार ने मे शकायें हुआ करती है जिससे कि सम्यक्त्व मे मलिनता आजाती है। इसी दोष के कारण यह कर्म सम्यक्त्वमोहनीय कहलाता है।

(२) कुछ भाग शुद्ध और कुछ भाग अशुद्ध ऐसे कोदो के समान मिश्रमोहनीय है। इस कर्म के उदय से जीव को तत्वरुचि नही होने पाती और अतत्वरुचि भी नही होती। मिश्रमोहनीय का दूसरा नाम सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय है। इन कर्मपुद्गलो मे द्विस्थानक रस होता है।

(३) सर्वथा अशुद्ध कोदो के समान मिथ्यात्वमोहनीय है। इस कर्म के उदय से जीव को हित मे अहितबुद्धि और अहित मे हितबुद्धि होती है अर्थात् हित को अहित समझता है और अहित को हित। इन कर्म पुद्गलो मे चतु स्थानक, त्रिस्थानक, और द्विस्थानक रस होता है। [illegible] को चतु स्थानक, [illegible] को त्रिस्थानक और [illegible] का द्विस्थानक रस कहते है। जो रस

सहज है अर्थात् स्वाभाविक है, उसे एक स्थानक कहते हैं। जैसे—नीव का अथवा ईख का एक सेर रस लिया, इसे एक स्थानक रस कहेंगे, नीव के इस स्वाभाविक रस को कटु, और ईख के रस को मधुर कहना चाहिये। उक्त एक सेर रस को आग के द्वारा काढाकर आधा जला दिया। बचे हुए आधे रस को द्विस्थानक रसा कहते हैं, यह रस, स्वाभाविक कटु और मधु रस की अपेक्षा, कटुकतर और मधुरतर कहा जायगा। एक सेर रस के दो हिस्से जला दिये जाय तो बचे हुए एक हिस्से को त्रिस्थानक रस कहते है, यह रस नीव का हुआ तो कटुकतम और ईख का हुआ तो मधुरतम कहलावेगा। एक सेर रस के तीन हिस्से जला दिये जाय तो बचे हुए पाव भर को चतु स्थानक कहते है, यह रस नीव का हुआ तो अतिकटुकतम और ईख का हुआ तो अतिमधुरतम कहा जायगा। इस प्रकार शुभ अशुभ फल देने की कर्म की तीव्रतम शक्ति को चतु स्थानक, तीव्रतर शक्ति को त्रिस्थानक, तीव्र शक्ति को द्विस्थानक और मन्दशक्ति को एक स्थानक रस समझना चाहिये।

सम्यक्त्वमोहनीय का स्वरुप —

जियअजियपुण्णपावासवसंवरबंधमुखनिज्जरणा।
जेण सद्दहइ तय सम्म खइगाइबहुभेयं ॥ १५ ॥

(जेण) जिस कर्म से (जियअजियपुण्णपावाससवरबधमुक्खनिज्जरणा) जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्त्रव, सवर, बन्ध, मोक्ष और निर्जरा इन नव तत्त्वो पर जीव (सद्दहइ) श्रद्धा करता है, (तय) वह (सम्म) सम्यक्त्वमोहनीय है। उसके (खइगाय वहुभेय) क्षायिक आदि बहुत-से भेद हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ-जिस कर्म के वल से जीव को जीवादि नव तत्त्वो पर श्रद्धा होती है, उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहते है। जिस प्रकार

चश्मा, आखो का आच्छादक होने पर भी देखने मे रुकावट नही पहुचाता, उसी प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय कर्म, आवरण स्वरूप होने पर भी शुद्ध होने के कारण, जीव की तत्वार्थ श्रद्धा का विघात नही करता, इसी अभिप्राय से ऊपर कहा गया है कि 'इसी कर्म से जीव को नव तत्त्वो पर श्रद्धा होती है।'

सम्यक्त्व के कई भेद है। किसी अपेक्षा से सम्यक्त्व दो प्रकार का है—१ व्यवहारसम्यक्त्व और २ निश्चयसम्यक्त्व। कुगुरु, कुदेव और कुमार्ग को त्यागकर सुगुरु, सुदेव और सुमार्ग का स्वीकार करना, व्यवहार सम्यक्त्व है। आत्मा का वह परिणाम, जिसके कि होने से ज्ञान विशुद्ध होता है, निश्चय-सम्यक्तव है।

१—मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्तवमोह-नीय, इन तीन प्रकृतियो के क्षय होने पर आत्मा मे जो परिणाम विशेप होता है, उसे क्षायिकसम्यक्तव कहते है।

२—दर्शनमोहनीय की ऊपर कही हुई तीन प्रकृतियो के उपशम से, आत्मा मे जो परिणाम होता है उसे औपशमिक सम्-यक्तव कहते है। यह सम्यक्तव ग्यारहवे गुणस्थान मे वर्तमान जीव को होता है। अथवा, जिस जीवने अनिवृत्तिकरण के अतिम समय मे मिथ्यात्वमोहनीय के तीन पुन्ज किये है, और मिथ्यात्व पुन्ज का क्षय नही किया है, उस जीव को यह औपशमिक सम्यक्तव प्राप्त होता है।

३—मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के क्षय तथा उपशम से, और सम्यक्तव मोहनीय कर्म के उदय से, आत्मा मे जो परिणाम होता है, उसे क्षायोपशमिकसम्यक्तव कहते है। उदय आये हुए मिथ्या-त्व के पुद्गलो का क्षय तथा जिनका उदय मे नही प्राप्त हुआ है उन पुद्गलो का उपशम, इस तरह मिथ्यात्व मोहनीय का क्षयो-

पशम होता है। यहा पर जो यह कहा गया है कि मिथ्यात्व का उदय होता है, वह प्रदेशोदय समझना चाहिये, न कि रसोदय। आपशमिक सम्यक्त्वमे मिथ्यात्व का रसोदय और प्रदेशोदय—दोनो प्रकारका उदय नही होता। प्रदेशोदयका ही उदयाभावी क्षय कहते है। जिसके उदयसे आत्मापर कुछ असर नही होता वह प्रदेशोदय है। तथा जिसका उदय आत्मा पर असर जमाता है, वह रसोदय है।

४–क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमे वर्तमान जीव, जव सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम पुद्गल के रसका अनुभव करता है, उस समय के उसके परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते है। वेदक सम्यक्त्व के वाद, उसे क्षायिक सम्यक्त्व ही प्राप्त होता है।

५-उपशमसम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख हुआ जिव, जव तक मिथ्यात्व को नही प्राप्त करता, तव तक के उसके परिणाम विशेषको सास्वादन अथवा सासादन सम्यक्त्व कहते है।

इसी प्रकार जिनोक्त क्रियाओ को—देववदन, गुरुवदन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि को करना 'कारक सम्यक्तव, उनमे रुचि रखने को 'रोचक सम्यक्तव' और उनसे होने वाले लाभोका सभाओमे समर्थन करना 'दीपक सम्यक्तव' इत्यादि सम्यक्तव के कई भेद है।

अब नव तत्त्वो का सक्षेप से स्वरुप कहते है —

१–जो प्राणो की धारणकरे, वह जीव है। प्राणके को भेद हैं-द्रव्यप्राण और भाव प्राण। पाच इन्द्रिया तीन बल, श्वासोच्छवास और आयु—ये दस, द्रव्य प्राण हैं। ज्ञान दर्शन आदि स्वभाविक गुणो को भाव प्राण कहते हैं। मुक्त जीवो मे भाव प्राण होते है। ससारी जीवो मे द्रव्य प्राण और भाव प्राण दोनो होते हैं। जीव तत्त्व के चौदह भेद है।

२–जिसमे प्राण न हो अर्थात् जड हो, वह अजीव है। पुद्गल, धर्मास्तिकाय, आकाश आदि अजीव है। अजीव तत्त्व के भी चौदह भेद हैं।

३–जिस कर्म के उदय से जीव को सुख का अनुभव करता है, वह द्रव्यपुण्य, और जीव के शुभ परिणाम दान, दया आदि भावपुण्य है। पुण्य तत्त्व के बयालीस भेद है।

४–जिस कर्म के उदय से जीव दु ख का अनुभव करता है, वह द्रव्यपाप और जीव का अशुभ परिणाम भावपाप है। पाप तत्त्व के वयासी भेद है।

५–कर्मों के आने का द्वार, जो जीव के शुभ अशुभ परिणाम है, वह भावास्त्रव और शुभ अशुभ परिणामो को उत्पन्न करने वाली अथवा शुभ अशुभ परिणामो से स्वय उत्पन्न होने वाली प्रवृतियो को द्रव्यास्त्रव कहते है। आस्त्रव तत्त्व के वया-लीस भेद है।

६–आते हुए नये कर्मों को रोकने वाला आत्मा का परि-णाम, भाव सवर, और कर्म पुद्गल की रुकावट को द्रव्य सवर कहते है। सवर तत्त्व के सत्तावन भेद है।

७–कर्म पुद्गलो का जीव प्रदेशो के साथ दूध-पानी की तरह आपस मे मिलना, द्रव्यवन्ध और द्रव्यवन्ध को उत्पन्न करने वाले अथवा द्रव्यवन्ध से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम भाववन्ध है। वन्धके चार भेद है।

८–सम्पूर्ण कर्म पुद्गलो का आत्मप्रदेशो से जुदा हो जाना द्रव्यमोक्ष और द्रव्यमोक्ष के जनक अथवा द्रव्यमोक्ष-जन्य आत्मा के विशुद्ध परिणाम भाव मोक्ष है। मोक्ष के नव भेद है।

९–कर्मों का एक देश आत्मा-प्रदेशो से जुदा होता है, वह द्रव्यनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा के जनक अथवा द्रव्यनिर्जरा-जन्य आत्मा के शुद्ध परिणाम, भाव निर्जरा है। निर्जरा के बारह भेद है

मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय का स्वरूप —

मीसा न रागदोसो जिणधम्मे अंतमुहु जहा अन्ने ।
नालियरदीवमणुणो मिच्छ जिणधम्म विवरीयं ॥१६॥

(जहा) जिस प्रकार (नालियरदीवमणुणो) नालिकेर द्वीप के मनुष्य को (अन्ने) अन्न मे (रागदोसा) राग और द्वेष (न) नही होता, उसी प्रकार (मीसा) मिश्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव को (जिणधम्मे) जैन धर्म मे राग द्वेप नही होता। इस कर्म का उदयकाल (अतमुहु) अन्तर्मुहूर्त का है। (मिच्छ) मिथ्यात्वमोहनीय कर्म (जिणधम्मविवरीय) जैन धर्म से विपरीत है ॥१६॥

भावर्थ—जिस द्वीप मे खाने के लिये सिर्फ नारियल ही होते है, उसे नालिकेर द्वीप कहते हैं। वहा के मनुष्यो ने अन्न को देखा है, न उसके विषय मे कुछ सुना ही है, अतएव उनको अन्न मे रुचि नही होती और न द्वेष ही होता है। इसी प्रकार जब मिश्रमोहनीय कर्म का उदय रहता है तब जोव को जैन धर्म मे प्रीति नही होती और अप्रीति भी नही होती अर्थात् श्रीवीतराग ने जो धर्म कहा है, वही सच्चा है, इस प्रकार एकान्त श्रद्धा रूप प्रेम नही होता और वह धर्म झूठा है, अविश्वसनीय है, इस प्रकार अरुचि रूप द्वेप भी नही होता। मिश्रमोहनीय का उदयकाल अन्तर्मुहूर्त का है।

जिस प्रकार रोगी को पथ्य चीजे अच्छी नही लगती और कुपथ्य चीजे अच्छी लगती है, उसी प्रकार मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का जब उदय होता है तब जीव को जैन धर्म पर द्वेप तथा उससे विरुद्ध धर्म मे राग होता है। मिथ्यात्व के १० भेद ये है —

१—जिनको काचन और कामिनी नही लुभा सकती, जिनको सासारिक लोगो की तारीफ खुश नही करती, ऐसे साधुओ को साधु न समझना।

२–जो काचन और कामिनी के दास बने हुए है, जिनको सासारिक लोगो से प्रशसा पाने की दिन-रात इच्छा बनी रहती है, ऐसे साधु-वेशधारियो को साधु समझना और मानना ।

३–क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग आकिचन्य और ब्रह्मचर्य, ये धर्म के दस भेद है । इनको अधर्म समझना ।

४–जिन कार्यो से या विचारो से आत्मा की अधोगति होती है, वह अधर्म है । जैसे कि हिसा करना, शराब पानी, जुआ खेलना, दूसरो की बुराई सोचना इत्यादि, इनको धर्म समझना ।

५–शरीर इन्द्रिय, मन, ये जड है । इनको आत्मा समझना अर्थात् अजीव को जीव मानना ।

६–जीव को अजीव मानना । जैसे कि गाय, बैल, बकरी, मुर्गी आदि प्राणियो मे आत्मा नही है, अतएव उनके खाने मे कोई दोष नही है, ऐसा समझना ।

७–उन्मार्ग को सुमार्ग समझना । अर्थात् जो पुरानी या नई कुरीतिया है, जिनसे सचमुच हानि ही होती है, वह उन्मार्ग है । उसको सुमार्ग समझना ।

८–सुमार्ग को उन्मार्ग समझना । अर्थात् जिन पुराने या नये रिवाजो से धर्म की वृद्धि होती है, वह सुमार्ग है । उसको कुमार्ग समझना ।

९–कर्म रहित को कर्म सहित मानना । राग और द्वेष, कर्म के सम्बन्ध से होते हैं । परमेश्वर मे रागद्वेष नही है तथापि यह समझना कि भगवान् अपने भक्तो की रक्षा के लिये दैत्यो का नाश करते हैं, अमुक स्त्रियो की तपस्या से प्रसन्न हो उनके पति बनते है आदि ।

१०–कर्म सहित को कर्म रहित मानना । भक्तो की रक्षा और शत्रुओ का नाश करना, राग द्वेष के सिवा हो नही सकता ।

और राग द्वेष, कर्म सम्बन्ध के बिना हो नहीं सकते। तथापि उन्हें कर्म रहित मानना, यह कहना कि, भगवान् सब कुछ करते है तथापि अलिप्त है।

चरित्रमोहनीय की उत्तरप्रकृतिया –

सोलह कसाय नव नोकसाय दुविह चरित्तमोहणिय ।
अण अप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य सजलणा ॥१७॥

(चरित्त मोहणिय) चारित्रमोहनीय कर्म (दुविह) दो प्रकार का है—(सोलस कसाय) सोलह कषाय और (नवनोकसाय) नव नोकषाय(अण) अनन्तानुबन्धी, (अप्पच्चक्खाणा) अप्रत्याख्यानावरण (पच्चक्खाणा) प्रत्याख्यानावरण (य) और (सजलणा) सञ्ज्वलन, इनके चार-चार भेद होने से सब कषायो की सख्या, सोलह होती है ॥१७॥

भावार्थ—चरित्र मोहनीय के दो भेद है। कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय। कषाय मोहनीय के सोलह भेद है, और नोकषाय मोहनीय के नव। इस गाथा मे कषाय मोहनीय के भेद कहे गये है, नोकषाय मोहनीय का वर्णन आगे आवेगा।

कषाय—कष का अर्थ है जन्म मरण रूप ससार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो, उसे कषाय कहते हैं।

नोकषाय—कषयो के उदय के साथ जिनका उदय होता है, वे, नोकषाय, अथवा कषायो को उभाडने वाले—उत्तेजित करने वाले हास्य आदि नव को नोकषाय कहते है। इस विषय का एक श्लोक इस प्रकार है —

'कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि ।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ॥'

क्रोध के साथ हास्य का उदय रहता है, कभी हास्य आदि क्रोध को उभारते है। इसी प्रकार अन्य कषायो के साथ नोकषाय का सम्बन्ध समझना चाहिये। कषायो के साहचर्य ही नोकषायो मे प्रधानता है, केवल नोकषायो मे प्रधानता नही है।

१–जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्तकाल तक ससार मे भ्रमण करता है उस कषाय को अनन्तानुवन्धी कहते है। इस कषाय के चार भेद है। १ अनन्तानुवन्धी क्रोध, २ अनन्तानुवन्धी मान, ३ अनन्तानुवन्धी माया और ४ अनन्तानुवन्धी लोभ। अनन्तानुवन्धी कषाय, सम्यक्त्व का घात करता है।

२–जिस कषाय के उदय से देशविरति रूप अल्प प्रत्याख्यान नही होता, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते है। तात्पर्य यह है कि इस कषाय के उदय से श्रावक धर्म की भी प्राप्ति नही होती। इस कषाय के चार भेद हैं, १ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, २ अप्रत्याख्यानावरण मान, ३ अप्रत्याख्यानावरण माया और ४ अप्रत्याख्यानावरण लोभ ।

३–जिस कषाय के उदय से सर्वविरति रूप प्रत्याख्यान रुक जाता है अर्थात् साधु धर्म की प्राप्ति नही होती, उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते है। यह कषाय देश विरति रूप श्रावक धर्म मे वाधा नही पहुचाता। इसके चार भेद हैं—१ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, २ प्रत्याख्यानावरण मान, ३ प्रत्याख्यानावरण माया और ४ प्रत्याख्यानावरण लोभ।

४–जो कषाय, परीषह तथा उपसर्गो के आ जाने पर यतियो को भी थोडा सा जलावे अर्थात् उन पर थोडा असर जमावे, उसे सञ्ज्वलन कषाय कहते है। यह कषाय, सर्व विरति रूप साधु धर्म मे वाधा पहुचाता है अर्थात् उसे होने नही

देता। इनके भी चार भेद हैं—सञ्ज्वलन क्रोध, २ सञ्ज्वलन मान, ३ सञ्ज्वलन माया और ४ सञ्ज्वलन लोभ।

मन्दबुद्धियो को समझाने के लिये ४ प्रकार के कपायों का स्वरूप—

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरिय नर अमरा।
सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा ॥ १८ ॥

उक्त अनन्तानुबन्धी आदि चार कपाय क्रमशः (जाजीव वरिस चउमास पक्खगा) यावत् जीव, वर्ष चतुर्मास और पक्ष तक रहते हैं और वे (नरयतिरियनरअमरा) नरक गति, तिर्यञ्च गति मनुष्य गति तथा देवगति के कारण हैं, और (सम्माणुसव्व-विरईअहखायचरित्त घायकरा) सम्यक्त्व, अणु विरति, सर्व विरति तथा यथाख्यात चरित्र का घात करते हैं।

भावार्थ—(१) अनन्तानुबन्धी कषाय वे हैं, जो जीवन पर्यन्त बने रहे, जिनसे नरक गति योग्य कर्मों का बन्ध हो और सम्यग्दर्शन का घात होता हो।

(२) अप्रत्याख्यानावरणकपाय, एक वर्ष तक बने [illegible] हैं, उनके उदय से तिर्यञ्च गति योग्य कर्मों का बन्ध [illegible] और देश विरति रूप चरित्र होने नही पाता।

(३) प्रत्याख्यानावरण कपायो की स्थिति [illegible] है, उनके उदय से मनुष्य गति योग्य कर्मों का [illegible] सर्व विरतिरूप चारित्र नही होने पाता।

(४) सञ्ज्वलन कपाय, [illegible] से देव गति योग्य कर्मों का बन्ध [illegible] नही होने पाता।

कषायो के विषय [illegible] नय को लेकर, क्योंकि [illegible]

वर्ष तक था, तथा प्रसन्नचन्द्रराजर्षि को अनन्तानुवन्धी कषाय का उदय अन्तर्मुहूर्त तक था। इसी प्रकार अनन्तानुवन्धी कषाय का उदय रहते हुए भी कुछ मिथ्या दृष्टियो की नवग्रैवेयक मे उत्पत्ति का वर्णन शास्त्र मे मिलता है।

दृष्टान्त के द्वारा क्रोध और मान का स्वरूप —

जलरेणुपुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो।
तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो माणो ॥१९॥

(जलरेणुपुढविपव्वयराईसरिसो) जल राजि, रेणुराजि, पृथिवी राजि और पर्वत राजि के सदृश (कोहो) क्रोध (चउव्विहो) चार प्रकार का है। (तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थभोभवो) तिनिस-लता, काष्ठ, अस्थि और शैल स्तम्भ के सदृश (माणो) मान चार प्रकार का है ॥१७॥

भावार्थ—क्रोध के चार भेद पहले कह चुके है, उनका हर एक का स्वरूप दृष्टान्तो के द्वारा समझाते है —

१—पानी मे लकीर खीचने से जैसे वह जल्द मिट जाती है, उसी प्रकार, किसी कारण से उदय मे आया हुआ क्रोध, शीघ्र ही शान्त हो जावे, उसे सञ्ज्वलन क्रोध कहते है। ऐसा क्रोध प्राय साधुओ को होता है।

२—धूलि मे लकीर खीचने पर, कुछ समय मे हवा से वह लकीर भर जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध, कुछ उपाय से शान्त हो, वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध है।

३—सूखे तालाव आदि मे मिट्टी के फट जाने से दरार हो जाती है, वर्षा होने पर फिर से मिल जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध विशेष परिश्रम से शान्त होता है, वह अप्रत्याख्यानावरण क्रोध है।

४—पर्वत के फटने पर जो दरार होती है उसका मिलना कठिन है, उसी प्रकार जो क्रोध किसी उपाय से शान्त नही होता वह अनन्तानुवन्धी क्रोध है।

अब दृष्टातो के द्वारा चार प्रकार का मान कहा जाता है –

१–बेत को बिना मेहनत नमाया जा सकता है, उसी प्रकार, मान का उदय होने पर जो जीव अपने आग्रह को छोड कर शीघ्र नम जाता है, उसके मान को सज्वलन मान कहते हैं।

२–सूखा काठ तेल वगैरह की मालिश करने पर नमता है, उसी प्रकार जिस जीव का अभिमान उपायो के द्वारा मुश्किल से दूर किया जाय, उसके मान को प्रत्याख्यानावरण मान कहते है।

३–हड्डी को नमाने के लिये बहुत से उपाय करने पडने हैं और बहुत मेहनत उठानी पडती है, उसी प्रकार जो मान, बहुत से उपायो से और अति परिश्रम से दूर किया जा सके, वह अप्रत्याख्यानावरण मान है।

४–चाहे जितने उपाय किये जायें तो भी पत्थर का खम्भा जैसे नही नमता, उसी प्रकार जो मान कभी भी दूर नही किया जा सके, वह अनन्तानुबन्धी मान है।

दृष्टान्तो के द्वारा माया और लोभ का स्वरूप कहते है –

मायावलेहिगोमुत्तिमिढसिंगघणवंसिमूलसमा ।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणी ॥२०॥

(अवलेहिगोमुत्तिमिढसिगघणवसिमूलसभा) अवलेखिका, गोमूत्रिका, मेषशृ ग और धनवशीमूल के समान (माया) माया, चार प्रकार की है। (हलिद्दखजणकद्दमकिमिरागसामाणी) हरिद्रा, खञ्जन, कर्दम और कृमिराग के समान (लोहो) लोभ चार प्रकार का है ॥२०॥

भावार्थ—माया का अर्थ है कपट, स्वभाव का टेडापन, मन मे कुछ और, और बोलना या करना कुछ और। इसके चार भेद हैं —

१–वास का छिलका टेढा होता है, पर विना मेहनत वह हाथ से सीधा किया जा सकता है, उसी प्रकार जो माया, विना परिश्रम दूर हो सके, उसे सज्वलनी माया कहते है।

२–चलता हुआ बैल जो मूतता है, उस मूत्र की टेढी लकीर जमीन पर मालूम होने लगती है, वह टेढापन हवा से धूलि के गिरने पर नही मालूम देता, उसी प्रकार जिसका कुटिल स्वभाव, कठिनाई से दूर हो सके, उसकी माया को प्रत्याख्यानी माया कहते है।

३–भेड के सीग का टेढापन वडी मुश्किल से अनेक उपायो के द्वारा दूर किया जा सकता है, उसी प्रकार जो माया, अत्यन्त परिश्रम से दूर की जा सके, उसे अप्रत्याख्यानावरणी माया कहते है।

४–कठिन वास की जड का टेढापन किसी भी उपाय से दूर नही किया जा सकता, उसी प्रकार जो माया, किसी प्रकार दूर न हो सके, उसे अनन्तानुवन्धिनी माया कहते है।

धन, कुटुम्ब, शरीर आदि पदार्थो मे जो ममता होती है, उसे लोभ कहते है। इसके चार भेद है, जिन्हे दृष्टान्तो के द्वारा दिखलाते है —

१–सज्वलन लोभ, हल्दी के रङ्ग के सदृश है, जो सहज ही मे छूटता है।

२–प्रत्याख्यानावरण लोभ दीप के कज्जल के सदृश है, जो कष्ट से छटता है।

३–अप्रत्याख्यानावरण लोभ गाडी के पहिये के कीचड के सदृश है, जो अति कष्ट से छूटता है।

४–अनन्तानुवन्धी लोभ, किरमिजी रङ्ग के सदृश है, जो किसी उपाय से नही छूट सकता।

नोकषाय मोहनीय के हास्य आदि छह भेद —

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा वा त इह हासाइमोहणियं ॥ २१ ॥

(जस्सुदया) जिस कर्म के उदय से (जिए) जीव मे अथवा जीव को (हास) हास्य, (रई) रति, (अरइ) अरति (सोग) शोक, (भय) भय और (कुच्छा) जुगुप्सा (सनिमित्त) कारण वश (वा) अथवा (अन्नहा) अन्यथा–बिना कारण (होइ) होती है, (त) वह कर्म (इह) इस शास्त्र मे (हासाइमोहणिय) हास्य आदि मोहनीय कहा जाता है ॥२१॥

भावार्थ—सोलह कषायो का वर्णन पहले हो चुका है। नव नोकषाय बाकी हैं, उनमे से छह नोकषायो का स्वरूप इस गाथा के द्वारा कहा जाता है, बाकी के तीन नोकषायो को अगली गाथा से कहेगे। छह नोकषायो के नाम और उनका स्वरूप इस प्रकार है —

१–जिस कर्म के उदय से कारणवश अर्थात् भाड आदि की चेष्टा को देखकर अथवा बिना कारण हसी आती है, वह हास्य-मोहनीय कर्म कहलाता है।

यहा यह सशय होता है कि, बिना कारण हसी किस प्रकार आवेगी ? उसका समाधान यह है कि तात्कालिक बाह्य कारण की अविद्यमानता मे मानसिक विचारो के द्वारा जो हसी आती है वह बिना कारण की है। तात्पर्य यह है कि तात्कालिक बाह्य पदार्थ हास्य आदि मे निमित्त हो तो सकारण, और सिर्फ मानसिक विचार ही निमित्त हो तो अकारण, ऐसा विवक्षित है।

२–जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा बिना कारण पदार्थो मे अनुराग हो–प्रेम हो, वह रतिमोहनीय कर्म है।

३–जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा विना कारण पदार्थो से अप्रीति हो, उद्वेग हो, वह अरतिमोहनीय कर्म है।

४–जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा विना कारण शोक हो, वह शोक मोहनीय कर्म है।

५–जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा विना कारण भय हो, वह भयमोहनीय कर्म है।

भय सात प्रकार का है —१ इहलोक भय–जो दुष्ट मनुष्यो को तथा बलवानो को देखकर होता है। २ परलोक भय–मृत्यु होने के बाद कौन सी गति मिलेगी, इस बात को लेकर डरना। ३ आदान भय—चोर, डाकू आदि से होता है। ४ अकस्मात भय-विजली आदि से होता है। ५ आजीविका भय–जीवन निर्वाह के विषय मे होता है। ६ मृत्यु भय–मृत्यु से डरना और ७ अपयश भय–अपकीर्त्ति से डरना।

६–जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा विना कारण, मासादि वीभत्स पदार्थो को देखकर घृणा होती है, वह जुगुप्सा मोहनीय कर्म है।

नोकषाय मोहनीय के अन्तिम तीन भेद—

पुरिसित्थि तदुभय पइ अहिलासो जव्वसा हवइ सोउ।
थीनरनपुवेउदओ फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥ २२ ॥

(जव्वसा) जिसके वश मे, जिसके प्रभाव मे (पुरिसित्थि-तदुभय पइ) पुरुष के प्रति, स्त्री के प्रति तथा स्त्री पुरुष दोनो के प्रति (अहिलासो) अभिलाष–मैथुन की इच्छा (हवइ) होती है, (सो) वह क्रमश (थीनरनपुवेउदओ) स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद का उदय है। इन तीनो वेदो का स्वरुप (फुंफुमतणनगरदाहसमो) करीपाग्नि, तृणाग्नि और नगरदाह के समान है ॥ २२ ॥

भावार्थ—नोकषाय मोहनीय के अन्तिम तीन भेदो के नाम १ स्त्री वेद, २ पुरुषवेद और ३ नपु सकवेद है।

१–जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह स्त्रीवेद कर्म है। अभिलाषा मे दृष्टान्त करीषाग्नि है। करीष सूखे गोवर को कहते है, उसकी आग जैसी जैसी जलाई जाय वैसी ही वैसी वढती है, उसी प्रकार पुरुष के कर-स्पर्शादि व्यापार से स्त्री की अभिलाषा बढती है।

२–जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह पुरुषवेद कर्म है। अभिलाषा मे दृष्टान्त तृणाग्नि है। तृण की अग्नि शीघ्र ही जलती और शीघ्र ही बुझती है, उसी प्रकार पुरुष को अभिलाषा शीघ्र होती है और स्त्री-सेवक के वाद शीघ्र शान्त होती है।

३–जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनो के साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह नपु सकवेद कर्म है। अभिलाषा मे दृष्टान्त, नगर-दाह है। शहर मे आग लगे तो बहुत दिनो मे शहर को जलाती है और उस आग के बुझाने मे भी वहुन दिन लगते हैं, उसी प्रकार नपु सकवेद के उदय से उत्पन्न हुई अभिलाषा चिरकाल तक निवृत्त नही होती और विषय-सेवन से तृप्ति भी नही होती। इस प्रकार मोहनीय कर्म का व्याख्यान समाप्त हुआ। अव—

आयु कर्म और नाम कर्म के स्वरूप और भेदो को कहते है—

सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं।
वायालतिनवइविहं तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥२३॥

(सुरनरतिरिनरयाऊ) सुरायु, नरायु, तिर्यञ्चायु और नरकायु इस प्रकार आयु कर्म के चार भेद है। आयु कर्म का स्वभाव

(हडिसरिस) हडि के समान है। और (नाम कम्म) नाम कर्म (चित्तिसम) चित्री-चित्रकार-चितेरे के समान है। वह नाम कर्म (बायालतिनवइविह) बयालीस प्रकार का, निरानवे प्रकार का (तिउत्तरसय) एक सौ तीन प्रकार का (च) और (सत्तट्ठी) सरसठ प्रकार का है ॥२३॥

भावार्थ—आयु कर्म की उत्तर प्रकृतिया चार है—१ देवायु २ मनुष्यायु, ३ तिर्यञ्चायु और ४ नरकायु। आयु कर्म का स्वभाव कारागृह (जेल) के समान है। जैसे, न्यायाधीश अपराधी को उसके अपराध के अनुसार अमुक काल तक जेल मे डालता है और अपराधी चाहता भी है कि मैं जेल से निकल जाऊ परन्तु अवधि पूरी हुये बिना नही निकल सकता, वैसे ही आयु कर्म जब तक बना रहता है तब तक आत्मा स्थूल-शरीर को नही त्याग सकता। जब आयु कर्म को पूरी तौर से भोग लेता है तभी वह शरीर को छोड देता है। नारक जीव, नरक भूमि मे इतने अधिक दुःखी रहते है कि वे वहा जीने की अपेक्षा मरना ही पसन्द करते है परन्तु आयु कर्म के अस्तित्व से—अधिक काल तक भोगने योग्य आयु कर्म के बने रहने से उनकी मरने की इच्छा पूर्ण नही होती।

उन देवो और मनुष्यो को, जिन्हे कि विषय-भोग के साधन प्राप्त है, जीने की प्रबल इच्छा रहते हुये भी, आयु कर्म के पूर्ण होते ही परलोक सिधारना पडता है। अर्थात् जिस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीता है और क्षय से मरता है, उसे आयु कहते है। आयु कर्म दो प्रकार है—१ अपवर्तनीय और २ अनपवर्तनीय।

१—बाह्यनिमित्त से जो आयु कम हो जाती है, उसको अपवर्तनीय या अपवर्त्य आयु कहते है। तात्पर्य यह है कि जल मे डूबने, आग मे जलने, शस्त्र की चोट, जहर खाने आदि बाह्य कारणो से शेष आयु को, जो कि पच्चीस-पचास आदि वर्षो तक

भोगने योग्य है, अन्तर्मुहूर्त मे भोग लेना आयु का अपवर्तन है। इसी आयु को दुनिया मे "अकाल मृत्यु" कहते है।

२-जो आयु किसी भी कारण से कम न हो सके, अर्थात् जितने काल तक की पहले बांधी गई है, उतने काल तक भोगी जावे, उस आयु को अनपवर्त्य आयु कहते है।

देव, नारक, चरम शरीरी अर्थात् उसी शरीर से मोक्ष जाने वाले, उत्तम पुरुष अर्थात् तीर्थकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि और जिनकी आयु असख्यात वर्षो की है ऐसे मनुष्य और तिर्यञ्च, इनकी आयु अनपवर्तनीय ही होती है। इनसे इतर जीवो की आयु का नियम नही है। किसी जीव की अपवर्तनीय और किसी की अनपवर्तनीय होती है।

नाम कर्म चित्रकार के समान है, जैसे चित्रकार नाना भाति के मनुष्य, हाथी, घोड आदि को चित्रित करता है, ऐसे ही नाम कर्म नाना भाति के देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारको की रचना करता है।

नाम कर्म की सख्या कई प्रकार से कही गई है। किसी अपेक्षा से उसके ४२ भेद है, किसी अपेक्षा से ९३ भेद भी हैं, किसी अपेक्षा से १०३ भेद हैं, और किसी अपेक्षा से ६७ भेद भी है।

नाम कर्म के ४२ भेदो को कहने के लिये १४ पिण्डप्रकृतिया—

गइजाइतणुउवंगा बंधणसंघायणाणि सघयणा।
सठाणवण्णगंधरसफासअणुपुव्विविहग गई ॥२४॥

(गई) गति, (जाइ) जाति, (तणु) तनु, (उवगा) उपाङ्ग, (वधण) वन्धन, (सघायणाणि) सघातन, (सघयणा) सहनन, (सठाण) सस्थान, (वण्ण) वर्ण, (गध) गन्ध, (रस) रस, (फास) स्पर्श, (अणुपुव्वि) आनुपूर्वी, और (विहगगइ) विहायोगति, ये

चौदह पिण्डप्रकृतिया हैं ।। २४ ।।

भावार्थ—नाम कर्म की जो पिण्डप्रकृतिया है, उनके १४ भेद है, प्रत्यक के साथ 'नाम' शब्द को जोड़ देना चाहिये । जैसे गतिनाम । इसी प्रकार अन्य प्रकृतियो के साथ 'नाम' शब्द को जोड देना चाहिये । पिण्डप्रकृति का अर्थ २५ वी गाथा मे कहेंगे ।

१—जिस कर्म के उदय से जीव, देव नारक आदि अवस्थाओ को प्राप्त करता है, उसे गति नाम कर्म कहते है ।

२—जिस कर्म के उदय से जीव, एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि कहा जाय, उसे जाति नाम कर्म कहते है ।

३—जिस कर्म के उदय से जीव को औदारिक, वैक्रिय आदि शरीरो की प्राप्ति हो, उसे तनुनाम कर्म या शरीर नाम कर्म कहते हैं ।

४—जिस कर्म के उदय से जीव के अङ्ग (सिर, पैर आदि) और उपाङ्ग (ऊगली, कपाल आदि) के आकार मे पुद्गलो का परिणमन होता है, उसे अङ्गोपाङ्गनाम कर्म कहते है ।

५—जिस कर्म के उदय से प्रथम ग्रहण किये हुये औदारिक आदि शरीर पुद्गलो के साथ गृह्यमाण औदारिक आदि पुद्गलो का आपस मे सम्बन्ध हो, उसे बन्धननाम कर्म कहते हैं ।

६—जिस कर्म के उदय से शरीर-योग्य पुद्गल, प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर पुद्गलो पर व्यवस्थित रूप से स्थापित किये जाते हैं, उसे सङ्घातन नाम कर्म कहते है ।

७—जिस कर्म के उदय से, शरीर मे हाडो की सन्धिया (जोड) दृढ होती है, जैसे कि लोहे की पट्टियो से किवाड मजबूत किये जाते है, उसे सहनननाम कर्म कहते है ।

८—जिसके उदय से, शरीर के जुदे-जुदे शुभ या अशुभ

आकर होते हैं, उसे सस्थाननाम कर्म कहते हैं ।

९–जिसके उदय से शरीर मे कृष्ण, गौर आदि रङ्ग होते है, उसे वर्णनाम कर्म कहते है ।

१०–जिसके उदय से शरीर की अच्छी या बुरी गन्ध हो, उसे गन्धनाम कर्म कहते हैं ।

११–जिसके उदय से शरीर मे खट्टे, मीठे आदि रसो की उत्पत्ति होती है, उसे रसनाम कर्म कहते हैं ।

१२–जिसके उदय से शरीर मे कोमल, रूक्ष आदि स्पर्श हो उसे स्पर्शनाम कर्म कहते हैं ।

१३–जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति में अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुचता है, उसे आनुपूर्वीनाम कर्म कहते हैं ।

आनुपूर्वी नाम कर्म के लिए नाथ का दृष्टात दिया गया है । जैसे इधर-उधर भटकते हुए बैल को नाथ के द्वारा जहा चाहते हैं, ले जाते हैं, उसी प्रकार जीव जब समश्रेणी से जाने लगता है, तब आनुपूर्वी कर्म, उसे जहा उत्पन्न होना हो वहा पहुचा देता है ।

१४–जिस कर्म के उदय से जीव की चाल (चलना) हाथी या बैल की चाल के समान शुभ अथवा ऊंट या गधे की चाल के समान अशुभ होती है, उसे विहायोगति नाम कर्म कहते हैं ।

प्रश्न—विहायस् आकाश को कहते हैं । वह सर्वत्र व्याप्त है । उसको छोडकर अन्यत्र गति हो ही नही सकती; फिर 'विहायस्' शब्द गति का विशेषण क्यों ? (**उत्तर**—विहायस् विशेषण न रखकर सिर्फ गति कहेगे तो नाम कर्म की प्रथम प्रकृतिका नाम भी गति होने के कारण पुनरुक्त दोष की शका हो जाती । इसलिए विहायस् विशेषण दिया है, जिससे जीव की चाल के अर्थ मे गति शब्द को समझा जाय, न कि देवगति, नारकगति आदि के अर्थ मे ।)

प्रत्येक प्रकृति के आठ भेद.—

पिंडपयडित्ति चउदस परघाउस्सासआयवुज्जोयं ।
अगुरुलहूतित्थनिमिणोवघायमिय अट्ठ पत्तेया ।।२५।।

(पिंडपयडित्ति चउदस) इस प्रकार पूर्व गाथा मे कही हुई प्रकृतिया, पिण्डप्रकृतिया कहलाती है और उनकी सख्या चौदह है। (परघा) पराघात, (उत्सास) उच्छ्वास, (आयवुज्जोय) आतप, उद्योत (अगुरुलहु) अगुरुलघु, (तित्थ) तीर्थ कर, (निमिण) निर्माण, और (उवघाय) उपघत्, (इय) इस पकार (अट्ठ) आठ (पत्तेया) प्रत्येक प्रकृतिया है ।।२५।।

भावार्थ—'पिडपयडित्ति चउदस' वाक्य का सम्बन्ध २४ वी गाथा के साथ है। उसमे कही हुई गति, जाति आदि १८ प्रकृतियो को 'पिडप्रकृति' कहने का मतलव हे कि उनमे से हर एक के भेद है जैसे, गति नाम के चार भेद, जाति नाम के पाच भेद आदि। पिडित का अर्थात् समुदाय का ग्रहण होने से 'पिड-प्रकृति' कही जाती है।

प्रत्येक प्रकृति के आठ भेद है। उनके हर एक के साथ 'नाम' शब्द को जोडना चाहिये। जैसे कि पराघात नाम, उच्छ्वास नाम आदि प्रत्येक का मतलव एक-एक से है अर्थात् ये आठो प्रकृतिया एक ही एक ह इनके भेद नही है। इसलिये ये प्रकृतिया, 'प्रत्येक प्रकृति' कही जाती है। वे ये ह—पराघात नाम कर्म, २ उच्छ्वास नाम कर्म, ३ आतप नाम कर्म, ४ उद्योग नाम कर्म, ५ अगुरुलघु नाम कर्म, ६ तीर्थंकर नाम कर्म, ७ निर्माण नाम कर्म और ८ उपघात नाम कर्म। इन प्रकृतियो का अर्थ यहा इसलिये नहीं कहा गया कि खुद ग्रन्थकार ही आगे कहने वाले है।

त्रस-दशक शब्द से कौन-कौन प्रकृतिया ली जाती है —

तस बायर पज्जत्तं पत्तेय थिरं सुभं च सुभगं च ।
सुसराइज्ज जसं तसदसगं थावरदसं तु इमं ॥२६॥

(तस) त्रस, (वायर) वादर, (पज्जत्त) पर्याप्त, (पत्तेय) प्रत्येक (थिर) स्थिर, (सुभं) शुभ, (सुभग) सुभग, (सुसराइज्ज) सुस्वर, आदेय (च) और (जस) यश कीर्त्ति, ये प्रकृतिया (तस-दसग) 'त्रस-दसक' कही जाती है। (थावरदस तु) 'स्थावर-दशक' तो (इम) यह, जिन्हे कि आगेकी गाथा मे कहेगे ॥ २६ ॥

भावार्थ—यहा भी प्रत्येक-प्रकृतिक के साथ नाम शब्द को जोड़ना चाहिये। जैसे कि त्रसनाम, वादरनाम आदि। त्रस से लेकर यश कीर्त्ति तक गिनती मे दस प्रकृतिया है, इसलिये ये प्रकृतिया त्रस दशक कही जाती है। इसी प्रकार स्थावर-दशक को भी समझना चाहीये, जिसे कि आगे की गाथामे कहने वाले हैं। त्रस-दशक की प्रकृतियोके नाम—१ त्रस नाम, २ वादर नाम, ३ पर्याप्त नाम, ४ प्रत्येक नाम, ५ स्थिर नाम, ६ शुभनाम, ७ सुभग नाम, ८ सुस्वर नाम, ९ आदेय नाम ओर १० यश कीर्त्ति नाम। इन प्रकृतियो का स्वरूप आगे कहा जायगा।

स्थावर-दशक शब्द से कौन-कौन प्रकृतिया ली जाती है -

थावर सुहुम अपज्जं साहारणअथिरअसुभदुभगाणि ।
दुस्सर ऽणाइज्जाजजसमिय नामे सेयरा बीसं ॥ २७ ॥

(थावस) स्थावर, (सुहुम) सूक्ष्म, (अपज्ज) अपर्याप्त, (सहारण) साधारण, (अथिर) अस्थिर, (असुभ) अशुभ, (दुभगाणी) दुर्भग (दुस्सरऽणाइज्जाजस) दु.स्वर, अनादेय और अयश कीर्त्ति, (इय) इस प्रकार (नामे) नाम कर्म मे

(सेयरा) इतर अर्थात् त्रसदशक के साथ स्थावर-दशक को मिलाने से (वीस) बीस प्रकृतिया होती हैं ॥२७॥

भावार्थ—त्रस-दशक मे जितनी प्रकृतिया है, उनकी विरोधिनी प्रकृतिया स्थावर-दशक मे हैं। जैसे कि त्रसनामसे विपरीत स्थावरनाम, वादरनाम मे विपरीत सूक्ष्मनाम, पर्याप्तनाम का प्रतीपक्षी अपर्याप्त नाम। इसी प्रकार शेप प्रकृतियोमे भी समझना चाहीये। त्रस-दशक की गिनती पुण्य-प्रकृतियो में ओर स्थावर दशक की गिनती पाप-प्रकृतियो मे है। इन २० प्रकृतियो को भी प्रत्येक-प्रकृति कहते है। अतएव २५ वी गाथा मे कही हुई ८ प्रकृतियो को इनके साथ मिलाने से २८ प्रकृतिया, प्रत्येक प्रकृतिया हुई। नाम शद्व का प्रत्येक के साथ सम्वन्ध पूर्ववत् समझना चाहिये। जैसे कि —१ स्थावर नाम, २ सूक्ष्म नाम, ३ अपर्याप्त नाम, ४ साधारण नाम, ५ अस्थिर नाम, ६ अशुभ नाम, ७ दुर्भग नाम, ८ दुःस्वर नाम, ९ अनादेय नाम और १० अयशःकीर्त्ति नाम।

"ग्रन्थलाघव के अर्थ, अनन्तरोक्त त्रस आदि बीस प्रकृतियों मे कतिपय सज्ञाओ को दो गाथाओ मे कहते है —

तसचउ थिरछक्क अथिरछक्क सुहुमतिग थावरचउक्कं।
सुभगतिगाइविभासा तदाइसंखाहि पयडीहि ॥२८॥

जितनी प्रकृतिया मिले, लेना चाहिये ।।२८।।

भावार्थ—सकेतो से शास्त्र का विस्तार नही होता, इसलिये सकेत करना आवश्यक है। सकेत, विभाषा, परिभाषा, सज्ञा, ये शब्द समानार्थक है। यहा पर सकेत की पद्धति ग्रत्थकारने यो वतलाई है –जिस सख्या के पहले, जिस प्रकृति का निर्देश किया हो, उस प्रकृति को जिस प्रकृति पर सख्या पूर्ण हो जाय उस प्रकृति को तथा बीच की प्रकृतियो को, उक्त सकेतो से लेना चाहिये। जैसे —

त्रस-चतुष्क–१ त्रसनाम, २ बादरनाम, ३ पर्याप्तनाम और ४ प्रत्येकनाम, ये चार प्रकृतिया "त्रसचतुष्क" इस सकेत से ली गई हैं। ऐसे ही आगे भी समझना चाहिये।

स्थिर-षट्क–१ स्थिरनाम, २ शुभनाम, ३ सुभगनाम, ४ सुस्वरनाम, ५ आदेयनाम और ६ यश कीर्तिनाम।

अस्थिर-षट्क– १अस्थिरनाम, २ अशुभनाम ३ दुर्भगनाम ४ दु स्वरनाम, ५ अनादेयनाम और ६ अयश कीर्त्तिनाम।

स्थावर-चतुष्क–१ स्थावरनाम, २ सूक्ष्मनाम, ३ अपर्याप्तनाम और ४ साधारणनाम।

सुभग-त्रिक—१ सुभगनाम, २ सुस्वरनाम और ३ आदेयनाम।

गाथा मे 'आदि' शब्द है, इसलिये दर्भग-त्रिकका भी सग्रह कर लेना चाहिये।

दुर्भग-त्रिक—१ दुर्भग, २ दु स्वर और ३ अनादेय।

वण्णचउ अगुरुलहुचउ तसाइदुतिचउरछक्कमिच्चाई ।
इय अन्नावि विभासा, तयाइ संखाहि-पयडीहिं ।।२९।।

(वण्णचउ) वर्णचतुष्क, (अगुरुलहुचउ) अगुरुलघुचतुष्क,

(तसाइ दुतिचउरछक्कमिच्चाई) त्रसद्विक त्रस-त्रिक, त्रसचतुष्क, त्रसषट्क इत्यादि (इय) इस प्रकार (अन्नाविविभासा) अन्य विभाषाए भी समझनी चाहिये, (तयाइसखाहि पयडीहि) तदादिसख्यक प्रकृतियो के द्वारा ॥२९॥

भावार्थ—पूर्वोक्त गाथा मे कुछ सङ्केत दिखलाये गये है, उसी प्रकार इस गाथा के द्वारा भी कुछ दिखलाये जाते है —

वर्ण-चतुष्क—१ वर्णनाम, २ गन्धनाम, ३ रसनाम और ४ स्पर्शनाम, ये चार प्रकृतिया 'वर्णचतुष्क' सकेत से ली जाती है।

अगुरुलघु-चतुष्क—१ अगुरुलघुनाम, २ उपघातनाम, ३ पराघातनाम और ४ उच्छ्वासनाम ।

त्रस-द्विक—१ त्रसनाम और बादरनाम ।

त्रस-त्रिक—१ त्रसनाम, २ बादरनाम और ३ पर्याप्तनाम ।

त्रस-चतुष्क—१ त्रसनाम, २ बादरनाम, ३ पर्याप्तनाम और ४ प्रत्येकनाम ।

त्रस-षट्क—१ त्रसनाम, २ बादरनाम, ३ पर्याप्तनाम, ४ प्रत्येकनाम, ५ स्थिरनाम और ६ शुभनाम ।

इनसे अन्य भी सकेत है। जैसे कि —**स्त्यानर्द्धि-त्रिक**—१ स्त्यानर्द्धि, २ निद्रानिद्रा और ३ प्रचलाप्रचला ।

२३ वीं गाथा मे कहा गया था कि नाम कर्म की सख्याये भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं मे भिन्न-भिन्न है अर्थात् उसके ४२ भेद भी है, और ९३ भेद भी हे इत्यादि। ४२ भेद अब तक रहे गये। उन्हे यो समझना चाहिये —१४ पिण्ड प्रकृतिया २४ वी गाथा मे कही गई, ८ प्रत्येक प्रकृतिया २५ वी गाथा मे कही गई, त्रसदशक और स्थावरदशक की २० प्रकृतिया क्रमश २६ वी और २७ वी गाथा मे कही गई है। इन सब को मिलाने से नाम कर्म की ४२ प्रकृतिया हुई ।

अब नाम कर्म के ९३ भेदो को कहने के लिए १४ पिण्ड प्रकृतियो की उत्तर प्रकृतिया कही जाती है —

गइयाईण उ कमसो चउपणपणतिपणपंचछच्छक्कं ।
पणदुगपणट्ठचउदुग इय उत्तरभेयपणसट्ठी ।।२३।।

(गइयाईण) गति आदि के (उ) तो (कमसो) क्रमश (चउ) चार, (पण) पाच (पण) पाच (ति) तीन (पण) पाच, (पच) पाच, (छ) छह, (छक्क) छह, (पण) पाच, (दुग) दो (पणट्ट) पाच, आठ, (चउ) चार, और (दुग) दो, (इय) इस प्रकार (उत्तरभेयपणसट्ठी) उत्तर भेद पैसठ है ।। ३० ।।

भावार्थ–२४ वी गाथा मे १४ पिण्डप्रकृतियो के नाम कहे गये है । इस गाथा मे उनके हर एक के उत्तर-भेदो की सख्या कहते है जैसे १ गतिनाम कर्म के ४ भेद, २ जाति नाम कर्म के ५ भेद, ३ तनु (सरीर) नाम कर्म के ५ भेद, ४ उपाङ्ग नाम कर्म के ३ भेद, ५ वन्धन नाम कर्म के ५ भेद, ६ सघातन नाम कर्म के ५ भेद, ७ सहनन नाम कर्म के ६ भेद, ८ सस्थान नाम कर्म के ६ भेद, ९ वर्ण-नाम कर्म के ५ भेद, १० गन्धनाम कर्म के २ भेद, ११ रसनाम कर्म के ५ भेद, १२ स्पर्श नाम कर्म के आठ भेद, १३ आनुपूर्वी नाम कर्म के ४ भेद, १४ विहायोगति नाम कर्म के दो भेद, इस प्रकार उत्तर भेदो की कुल सख्या ६५ होती हैं ।

नाम कर्म की ९३, १०३ और ६७ प्रकृतियाँ —

अडवीस जुया तिनवइ संते वा पनरबंधणे तिसय ।
बंधणसंघायगहो तणूसु सामन्नवण्णचऊ ।। ३१ ।।

(अडवीस जुआ) अट्ठाईस प्रत्येक प्रकृतियो को पैसठ प्रकृतियो मे जोड देनेसे (सते) सत्ता मे (तिनवइ) तिरानवे भेद होते हैं । (वा) अथवा इन ९३ प्रकृतियो मे (पनरवधणे) प

रह बधनो के वस्तुत दस बधनो के जोड देनेसे (सते) सत्ता मे (तिसय) एक सौ तीन प्रकृतिया होती है, (तणुसु) शरीरो मे अर्थात शरीर के ग्रहण मे (बधणसघायगहो) बधनो और सघातनो का ग्रहण होजाता है, और इसीप्रकार(सामन्नवन्नचऊ) सामान्य रुपसे वर्ण-चतुष्क का भी ग्रहण होता है ॥ ३१ ॥

भावार्थ–पूर्वोक्त गाथा मे १४ पिन्डप्रकृतियो की सख्या, ६५ कही गई है , उनमे २८ प्रत्येक प्रकृतिया अर्थात् ८ पराघात आदि, १० त्रस आदि, और १० स्थावर आदि, जोड दिये जाय नाम कर्म की ९३ प्रकृतिया सत्ता की अपेक्षा से समझना चाहिये। इन ९३ प्रकृतियो मे, बधन नाम के ५ भेद जोड दिये गये है, परन्तु किसी अपेक्षा से बध नाम के १५ भेद भी होते है । ये सब, ९३ प्रकृतियो मे जोड दिये जाय तो नाम कर्म के १०३ भेद होगे अर्थात् बधन नाम के १५ भेदो मेसे ५ भेद जोड देनेपर ९३भेद कह चुके हैं, अब सिर्फ बधन नाम के शेष १० भेद जोडना बाकी रह गया था, सो इनके जोड देनेसे ९३+१०=१०३ नाम कर्म के भेद सत्ता की अपेक्षासे हुये ।नाम कर्म की ६७प्रकृतिया इसप्रकार समझना चाहिये —बन्ध नाम के १५ भेद और सघातन नाम के ५ भेद, ये २० प्रकृतिया, शरीर नाम के ५ भेदो मे शामिल की जाय, इसी तरह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की २० उत्तर प्रकृतियो को चार प्रकृतियो मे शामिल किया जाय । इस प्रकारवर्ण आदि की १६ तथा बन्धन–सघातन की २०, दोनो को मिलाने से ३६ प्रकृतिया हुई । नाम कर्म की १०३ प्रकृतियो मेसे ३६ को घटा देनेसे ६७ प्रकृतिया रही ।

औदारीक आदि शरीर के सदृश ही औदारिक बन्धन तथा औदारिक आदि सघातन है । इसी लिये बन्धनो और सघा-

तनो का शरीर नाम मे अन्तर्भाव कर दिया गया। वर्ण की ५ उत्तरप्रकृतिया है। इसी प्रकार गन्ध की २, रस की ५ और स्पर्श की ८ उत्तर-प्रकृतिया है। साजात्य को लेकर विशेप भेदो की विवक्षा नही की हैं, किन्तु सामान्य-रूप से एक-एक ही प्रकृति ली गई है।

वन्ध आदि की अपेक्षा कर्म-प्रकृतियो की जुदी २ सख्याए –

इय सत्तट्ठ बंधोदए य न य सम्ममीसया बंधे।
बंधुदए सत्ताए वीसदुवीसऽट्ठवन्नसयं ॥३२॥

(इय) इस प्रकार (सत्तट्ठी) सडसठ प्रकृतिया (बधोदए) वन्ध, उदय और (य) च अर्थात् उदीरणा की अपेक्षा समझना चाहिये। (सम्मीसया) सत्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय (वन्ध) वन्धन मे (न य) न च—नही लिये जाते, (बधुदए) सत्ताए) वन्ध, उदय और सत्ता की अपेक्षा क्रमश (विस-दुवी सट्ठवन्नसय) एकसौ वीस, एक सौ बाईस और एक सौ अट्ठावन कर्म प्रकृतिया ली जाती हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ—इस गाथा मेंवन्ध, उदय, उदीरणा तथा सत्ता की अपेक्षा से कुल कर्म-प्रकृत्तियो की जुदी-जुदी सख्याए कही हैं।

१२० कर्म-प्रकृतिया वन्ध की अधिकारिणी हैं। सो इस प्रकार —नाम कर्म की ६७, ज्ञानावरणीय की ५ दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २६, आयु की ४, गोत्र की २ और अन्तराय की ५ सब को मिलाकर १२० कर्म प्रकृतिया हुई।

यद्यपि मोहनीयकर्म के २८ भेद हैं, परन्तु वन्धन २६ का ही होता है। सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय, इन दो प्रकृतियो का वन्ध नही होता। जिस मिथ्यात्व मोहनीय का वन्ध होता है, उस के कुछ पुद्गलो को जीव अपने सम्यक्त्वगुण से अत्यन्त

कर देता है और कुछ पुद्गलो को अर्द्ध शुद्ध करता है। अत्यन्त-शुद्ध पुद्गल, सम्यक्त्वमोहनीय और अर्द्ध-शुद्ध पुद्गल मिथ्यात्व-मोहनीय कहलाते है। तात्पर्य यह है कि दर्शनमोहनीय की दो प्रकृतियो को–सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय को कम कर देनेसे शेष १२० प्रकृतिया वन्ध योग्य हुई ।

अव इन्ही वन्ध योग्य प्रकृतियो मे मोहनीय की जो दो प्रकृतिया घटा दी गई थी, उनको मिला देनेसे १२२ कर्म प्रकृतिया उदय तथा उदीरणा की अधिकारिणी हुई, क्योकि अन्यान्यप्रकृतियो के समान ही सम्यक्त्वमोहनीय तथा मिश्रमोहनीय की उदय-उदीरणा हुआ करती है।

१५८ अथवा १४८प्रकृतिया सत्ता की अधिकारीणी है।सो इस प्रकार–ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नाम कर्म की १०३, गोत्र की २ और अन्तराय की ५ सव मिलकर १५८ हुई। इस सख्या मे वन्धन नाम के १५ भेद मिलाए गये है। यदि १५ के स्थान मे ५ भेद ही वन्धन के समझे जाय तो १५८ मे से १० के घटा देने पर सत्तायोग्य प्रकृतियो की सख्या १४८ होगी।

१४ पिण्डप्रकृतियो मे से गति, जाति तथा शरीर नाम के उत्तर भेद —

निरयतिरिनरसुरगई इगबियतियचउपणिदिजाइओ।
ओरालविउव्वाहारगतेयकम्मण पण सरीरा ॥२३॥

(निरयतिरिनरसुरगई) नरक गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार गतिनाम कर्म के भेद है। (इगबियतिय-चउपणिदिजाइओ) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय ये जाति नाम के पाच भेद है। (ओरालविउव्वा-

हारंगतेयकम्मणपणसरीरा) औदारिक, वैक्रिय आहारक, तैजस और कार्मण, ये पाच, शरीर नाम कर्म के भेद है ॥३३॥

भावार्थ—गति नाम कर्म के चार भेद —

१–जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे यह नारक है ऐसा कहा जाय, वह नरक-गतिनाम कर्म ।

२–जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे यह तिर्यञ्च है ऐसा कहा जाय, वह तिर्यञ्चगतिनाम कर्म ।

३–जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे यह मनुष्य है ऐसा कहा जाय, वह मनुष्यगतिनाम कर्म ।

४–जिस कर्म के उदय मे जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिसे देख यह देव है ऐसा कहा जाय, वह देवगतिनाम कर्म है ।

जातिनाम कर्म के पाच भेद —

१–जिस कर्म के उदय से जीव को सिर्फ एक इन्द्रिय–त्वगिन्द्रिय की प्राप्ति हो उसे एकेन्द्रिय जातिनाम कर्म कहते हैं ।

२–जिस कर्म के उदय से जीव को दो इन्द्रिया–त्वचा और जीभ–प्राप्त होत हो, वह द्वीन्द्रियनाम कर्म है ।

३–जिस कर्म के उदय से तीन इन्द्रिया–त्वचा, जीभ और नाक–प्राप्त हो वह त्रीन्द्रियजातिनाम कर्म है ।

४–जिस कर्म के उदय से चार इन्द्रिय–त्वचा, जीभ नाक, और आख–प्राप्त हो वह चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म है ।

५–जिस कर्म के उदय से पाच इन्द्रिय–त्वचा, जीभ नाक, आख और कान प्राप्त हो, वह पञ्चेन्द्रिय जाति नाम कर्म है ।

शरीर नाम कर्म के पाच भेद —

१–उदार अर्थात् प्रधान अथवा स्थूल पुद्गलो से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है, जिस कर्म से ऐसा शरीर मिले उसे औदारिक शरीर नाम कर्म कहते है ।

तीर्थङ्कर और गणधरो का शरीर, प्रधान पुद्गलो से बनता है, और सर्वसाधारण का शरीर, स्थूल असार पुद्गलो से बनता है। मनुष्य और तिर्यञ्च को औदारिक शरीर प्राप्त होता है।

२–जिस शरीर से विविध क्रियाए होती है, उसे वैक्रिय शरीर कहते है, जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति हो, उसे वैक्रिय शरीर नाम कर्म कहते है।

विविध क्रियाये ये —एक स्वरूप धारण करना, अनेक स्वरूप धारण करना, छोटा शरीर धारण करना, बडा शरीर धारण करना, आकाश मे चलने योग्य शरीर धारण करना, भूमि पर चलने योग्य शरीर धारण करना, दृश्य शरीर धारण करना, अदृश्यशरीर धारण करना, इत्यादि अनेक प्रकार की अवस्थाओ को वैक्रिय शरीरधारी जीव कर सकता है।

वैक्रिय शरीर दो प्रकार के हैं —औपपातिक और लब्धि-प्रत्यय।

देव और नारको का शरीर औपपातिक कहलाता है अर्थात् उनको जन्म से ही वैक्रिय शरीर मिलता है। लब्धिप्रत्यय शरीर तिर्यञ्च और मनुष्यो को होता है अर्थात् मनुष्य और तिर्यञ्च, तप आदि के द्वारा प्राप्त किए हुये शक्ति-विशेष से वैक्रिय शरीर धारण कर लेते हैं।

३–चतुर्दशपूर्वधारी मुनि अन्य (महाविदेह) क्षेत्र मे वर्तमान तीर्थङ्कर से अपना सदेह निवारण करने अथवा उनका ऐश्चर्य देखने के लिये जब उक्त क्षेत्र को जाना चाहते है तब लब्धिविशेष से एक हाथ प्रमाण अतिविशुद्धस्फटिक-सा निर्मल जो शरीर धारण करते है, उसे आहारक शरीर कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति हो, वह आहारक शरीर नाम कर्म है।

४–तेज पुद्गलो से बना हुआ शरीर तैजस कहलाता है।

इस शरीर की उष्णता से खाये हुये अन्न का पाचन होता है। और कोई-कोई तपस्वी जो क्रोध से तेजो लेश्या के द्वारा औरो को नुकसान पहुचाता है तथा प्रसन्न होकर शीतलेश्या के द्वारा फायदा पहुचाता है, सो इसी तेज शरीर के प्रभाव से समझना चाहिये। अर्थात् आहार के पाक का हेतु तथा तेजोलेश्या और शीतलेश्या के निर्गमन का हेतु जो शरीर, वह तैजस शरीर है। जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति होती है, वह तैजस शरीर नाम कर्म है।

५–कर्मो का वना हुआ शरीर कार्मण कहलाता है। जीव के प्रदेशो के साथ लगे हुये ८ प्रकार के कर्म पुद्गलो को कार्मण शरीर कहते है। यह कार्मण शरीर, सब शरीरो का बीज है। इसी शरीर से जीव अपने मरण-देश को छोड कर उत्पत्ति स्थान को जाता है। जिस कर्म से कार्मण शरीर की प्राप्ति हो, वह कार्मण-शरीर नाम कर्म है।

समस्त ससारी जीवो को तैजस शरीर और कर्मण शरीर, ये दो शरीर अवश्य होते हैं।

उपाङ्ग नाम कर्म के तीन भेद —

बाहूरु पिट्ठि सिर उर उयरंग उवंग अंगुलीपमुहा।
सेसा अगोपांग पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥ ३४ ॥

(वाहूरु) भुजा, जंघा, (पिट्ठि) पीठ, (सिर) सिर, (उर) छाती और (उयरग) पेट, ये अङ्ग हैं। (अंगुलीपमुहा) उगली आदि (उवग) उपाग हैं। (सेसा) शेप (अगोपाग) अगोपाग है। (पढमतणुतिगस्सुवगाणि) ये अग, उपाग, और अगोपाग प्रथम के तीन शरीर मे ही होते है ॥३४॥

भावार्थ—पिण्डप्रकृतियों मे चौथा उपाङ्गनाम कर्म है।

उपाङ्ग शब्द से तीन वस्तुओ का—अङ्ग, उपाङ्ग और अङ्गोपाङ्ग का ग्रहण होता है। ये तीनो अङ्गादि, औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीर मे ही होते है। अन्त के तैजस और कार्मण इन दो शरीर मे नही होते, क्योकि इन दोनो का कोई सस्थान अर्थात् आकार नही होता, अगोपाग आदि के लिये किसी न किसी आकृति की आवश्यकता है, सो प्रथम के तीन शरीरो मे ही पाई जाती है।

अङ्ग के आठ भेद है—दो भुजाये, दो जघाये, एक पीठ, एक सिर, एक छाती और एक पेट। अग के साथ जुडे हुए छोटे अवयवो को उपाग कहते है, जैसे उगली आदि। अगुलियो की रेखाओ तथा पर्वो आदि को अगोपाग कहते है।

१ औदारिक शरीर के आकार मे परिणत पुद्गलो से अगोपाग अवयव, जिस कर्म के उदय से बनते है, उसे औदारिक-अगोपाग नाम कर्म कहते है। २ जिस कर्म के उदय से, वैक्रिय शरीर रूप परिणत पुद्गलो से अगोपाग रूप अवयव बनते है, वह वैक्रिय अगोपाग नाम कर्म है। ३ जिस कर्म के उदय से, आहारक शरीर रूप से परिणत पुद्गलो से अगोपाग-रूप अवयव बनते है, वह आहारक अगोपाग नाम कर्म है।

वन्धन नाम कर्म के पाच भेद —

उरलाइपुग्गलाणं निबद्धवज्झंतयाण संबंध।
जं कुणइ जउसमं तं * उरलाईबंधणं नेयं ॥३५॥

(ज) जो कर्म (जउसमं) जतु—लाख के समान (निवद्ध-वज्झतयाण) पहले वधे हुए तथा वर्तमान मे वधने वाले (उरला-इपुग्गलाण) औदारिक आदि शरीर के पुद्गलो का, आपस मे

* "वधण मुरलाई तणुनामा" इत्यदि पाठान्तरम्।

(सवच) सम्वन्ध (कुणइ) कराता है—परस्पर मिलता है (त) उस कर्म को (उरलाइवधण) औदारिक आदि बन्धननाम कर्म (नेय) समझना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार लाख, गोद आदि चिकने पदार्थों से दो चीजे आपस मे जोड दी जाती हैं, उसी प्रकार बन्धननाम कर्म, शरीर नाम के बल से प्रथम ग्रहण किये हुये शरीर पुद्गलो के साथ, वर्तमान समय मे जिनका ग्रहण हो रहा है ऐसे शरीर-पुद्गलो को वाध देता है—जोड देता है। यदि बन्धननाम कर्म न हो तो शरीरकार-परिणत पुद्गलो मे उसी प्रकार की अस्थिरता होती, जैसी कि वायु-प्रेरित, कुण्ड स्थित सक्तु (सत्तु) मे होती है।

जो शरीर नये पैदा होते है, उनके प्रारम्भ-काल मे सर्व बंध होता है। वाद, वे शरीर जव तक धारण किये जाते हैं, देश-वध हुआ करता है, अर्थात्, जो शरीर नवीन नही उत्पन्न होते, उनमे, जव तक कि वे रहते है, देश-वन्ध ही हुआ करता है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक, इन तीन शरीरो मे, उत्पत्ति के समय सर्व-वन्ध और वाद मे देश-वन्ध होता है। तैजस और कार्मण शरीर की नवीन उत्पत्ति नही होती, इसलिये उनमे देश-वन्ध होता है।

१—जिस कर्म के उदय से, पूर्व गृहीत—प्रथम ग्रहण किये हुये औदारिक पुद्गलो के साथ, गृह्यमाण—वर्तमान समय मे जिनका ग्रहण किया जा रहा हो, ऐसे औदारिक पुद्गलो का आपस मे मेल हो जावे, वह औदारिक शरीर वन्धननाम कर्म है।

२—जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत वैक्रिय पुद्गलो के साथ गृह्यमाणवैक्रिय पुद्गलो का आपस मे मेल हो, वह वैक्रिय शरीर वन्धन नाम कर्म है।

३–जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत आहारक पुद्‌गलो के साथ गृह्यमाण आहारक पुद्‌गलो का आपस मे सम्बन्ध हो, वह आहारक शरीर बन्ध नाम कर्म है।

४–जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत तैजस पुद्‌गलो के साथ गृह्यमाण तैजस पुद्‌गलो का परस्पर बन्ध हो, वह तैजस शरीर बन्धन नाम कर्म है।

५–जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत कार्मण पुद्‌गलो के साथ, गृह्यमाण कार्मण पुद्‌गलो का परस्पर सम्बन्ध हो, वह कार्मण शरीर बन्धन नाम कर्म है।

सघातन नाम कर्म के पाच भेद –

जं संघायइ उरलाइपुग्गले तणगणं व दंताली।
तं संघायं बंधणमिव तणुनामेण पचविहं ॥३६॥

(दताली) दताली (तणगण व) तृण-समूह के सदृश (ज) जो कर्म (उरलाइपुग्गले) औदारिक आदि शरीर के पुद्‌गलो को (सघायइ) इकट्ठा करता है (त सघाय) वह सघातन नाम कर्म है। (बधणमिव) बन्धन नाम कर्म की तरह (तणुनामेण) शरीर-नाम की अपेक्षा से वह (पचविह) पाच प्रकार का है ॥३६॥

भावार्थ—प्रथम ग्रहण किये हुये शरीर पुद्‌गलो के साथ गृह्यमाण शरीर पुद्‌गलो का परस्पर बन्ध तभी हो सकता है जब कि उन दोनो प्रकार के–गृहीत और गृह्यमाण पुद्‌गलो का परस्पर सान्निध्य हो ' पुद्‌गलो को परस्पर सन्निहित करना–एक दूसरे के पास व्यवस्था से स्थापन करना सघातन कर्म का कार्य है। इसमे दृष्टान्त दन्ताली से इधर उधर बिखरी हुई घास इकट्ठी की जाती है, फिर उस घास का गट्ठा बाधा जाता है, उसी प्रकार सङ्घातन नाम कर्म पुद्‌गलो को सन्निहित करता है और बन्धन नाम, उनको

सवद्ध करता है ।

शरीर नाम की अपेक्षा मे जिस प्रकार वन्धन नाम के पाच भेद किये गये, उसी प्रकार सघातन नाम के भी पाच भेद है —

१–जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के रूप मे परिणत पुद्गलो का परस्पर सान्निध्य हो, वह औदारिक सघातन-नाम कर्म है ।

२–जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर के रूप मे परिणतपुद्गलो का परस्पर सान्निध्य हो, वह वैक्रिय सघातन नाम कर्म है ।

३–जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर के रूप मे परिणत पुद्गलो का परस्पर सान्निध्य हो, वह आहारक सघातन नाम कर्म है ।

४–जिस कर्म के उदय से तैजस शरीर के रूप मे परिणत-पुद्गलो का परस्पर सान्निध्य हो, वह तैजस सघातन नाम कर्म है ।

५–जिस कर्म के उदय से कार्मण शरीर के रूप मे परिणतपुद्गलो का परस्पर सान्निध्य हो, वह कार्मण सघातन नाम-कर्म है ।

वन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद —

ओरालविउव्वाहारयाण सगतेयकम्मजुत्ताणं ।

नव वंधणाणि इयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥३७॥

(सगतेयकम्मजुत्ताण) अपने अपने तैजस तथा कार्मण के साथ सयुक्त ऐसे (ओरालविउव्वाहारयाण) औदारिक, वैक्रिय और आहारक के (नव वधणाणि) नव वन्धन होते है । (इयर दुसहियाण) इतर दो—तैजस और कार्मण इन के साथ अप

मिश्र के साथ औदारिक, वैक्रिय और आहारक का सयोग पर (तिन्नि) तीन वन्धन प्रकृतिया होती है। (च) और (ते उन के अर्थात् तैजस और कार्मण के, स्व तथा इतर से म होने पर, तीन बधन-प्रकृतिया होती है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—इस गाथा मे बधन नाम कर्म के १५ भेद कहे है

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनो का स्वर्क पुद्गलो से अर्थात् औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर रूप परिणत पुद्गलो से, तैजस पुद्गलो से तथा कार्मण पुद्गलो सम्बन्ध कराने वाले वन्धन नाम कर्म के नव भेद हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक का हर एक का, तैज और कार्मण के साथ युगपत् सम्बन्ध कराने वाले वन्धन नाम कर्म के तीन भेद हैं। तेजस और कार्मण का स्वकीय तथा इतर सम्बन्ध कराने वाले वन्धन नाम कर्म के तीन भेद है। इस तरह वन्धन नाम कर्म के १५ भेद हुए। उनके नाम ये है —

१ औदारिक औदारिक-वन्धन नाम, २ औदारिक-तैजस-वन्धन नाम, ३ औदारिक-कार्मण-वन्धन नाम, ४ वैक्रिय-वैक्रिय-वन्धन नाम, ५ वैक्रिय तैजस-बन्धन नाम, ६ वैक्रिय-कार्मण-वन्धन नाम, ७ आहारक आहारक वन्धन नाम, ८ आहारक-तैजस-बन्धन नाम, ९ आहारक-कार्मण वन्धन नाम, १० औदारिक-तैजस-कार्मण-बन्धन नाम, ११ वैक्रिय-तैजस-कार्मण-बन्धन नाम, १२ आहारक-तैजस-कार्मण-वन्धन नाम, १३ तैजस-तैजस-वन्धन नाम, १४ तैजस-कार्मण बन्धन नाम, १५ कार्मण-कार्मण-बन्धन नाम।

इनका अर्थ यह है कि —१ जिस कर्म के उदय से, पूर्व-गृहीत औदारिक पुद्गलो के साथ गृह्यमाण औदारिक पुद्गलो का परस्पर सम्बन्ध होता है, वह औदारिक औदारिक बन्धननाम

कर्म है। २ जिस कर्म के उदय से औदारिक दल का तैजस दल के साथ सम्बन्ध हो, वह औदारिक तैजस बन्धन नाम है। ३ जिस कर्म के उदय से औदारिक दल का कार्मण दल के साथ सम्बन्ध होता है, वह औदारिक-कार्मण बन्धन नाम है। इसी प्रकार अन्य बन्धन नामो का भी अर्थ समझना चाहिये। औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरो के पुद्गलो का परस्पर सम्बन्ध नही होता, क्योकि वे परस्पर विरुद्ध हैं। इसलिए उनके सम्बन्ध कराने वाले नाम कर्म भी नही है।

सहनन नाम कर्म के छह भेद, दो गाथाओ से कहते हैं —

संघयणमट्ठिनिचओ तं छद्धा वज्जरिसहनारायं।
तहय रिसहनारायं नारायं अद्धनारायं ॥३८॥
कीलिअ छेवट्ठ इह रिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं।
उभओ मक्कडबधो नारायं इममुरालंगे ॥३९॥

(सघयणमट्ठिनिचओ) हाडो की रचना को सहनन कहते है, (त) वह (छद्धा) छह प्रकार का है —(वज्जरिसहनाराय) वज्रऋषभनाराच, (तहय) उसी प्रकार (रिसहनाराय) ऋषभनाराच, (नाराय) नाराच, (अद्धनाराय) अर्द्ध नाराच ॥३८॥

(कीलिय) कीलिका और (छेवट्ठ) सेवार्त। (इह) इस शास्त्र मे (रिसहो पट्टो) ऋषभ का अर्थ, पट्ट, (य) और (कीलिया वज्ज) वज्र का अर्थ, कीलिका—खोला है, (उभओ मक्कडबधो नाराय) नाराच का अर्थ, दोनो ओर मर्कट-बन्ध है। (इममुरालगे) यह सहनन औदारिक शरीर मे ही होता है ॥३९॥

भावार्थ—पिण्ड प्रकृतियो का वर्णन चल रहा है। उनमे से सातवी प्रकृतिका नाम है, सहनन नाम। हाडो का आपस मे जुड जाना, अर्थात् रचना-विशेष जिस नाम कर्म के उदय से हो

है, उसे 'सहनन नाम कर्म' कहते है। उसके छह भेद है—

१—वज्र का अर्थ है खीला, ऋषभ का अर्थ है वेटन-पट्ट और नाराच का अर्थ है दोनो तरफ मर्कट-बन्ध। मर्कट-बन्ध से बधी हुई दो हड्डियो के ऊपर, तीसरे, हड्डी का वेठन हो, और तीनो को भेदने वाला हड्डी का खीला जिस सहनन मे पाया जाय, उसे वज्रऋषभनाराच सहनन कहते है, और जिस कर्म के उदय से ऐसा सहनन प्राप्त हो उस कर्म का नाम भी वज्रऋषभनाराच सहनन है।

२—दोनो तरफ हाडो का मर्कट-बन्ध हो, तीसरे, हाडका वेठन भी हो, लेकिन तीनो को भेदने वाला हाड का खीला न हो, तो ऋषभ-नाराच सहनन। जिस कर्म के उदय से ऐसे सहनन प्राप्त होता है उसे ऋषभ-नाराच सहनन नाम कर्म कहते है।

३—जिस रचना मे दोनो तरफ मर्कट-बन्ध हो, लेकिन वेठन और खीला न हो, उसे नाराच सहनन कहते है। जिस कर्म से ऐसा सहनन प्राप्त होता है, उसे नाराच सहनन नाम कर्म कहते है।

४—जिस रचना मे एक तरफ मर्कट-बन्ध हो और दूसरी तरफ खीला हो, उसे अर्धनाराच सहनन कहते है। पूर्ववत् ऐसे कर्म का भी नाम अर्धनाराच सहनन है।

५—जिस रचना मे मर्कट-बन्ध और वेठन न हो, किन्तु खीले से हड्डिया जुडी हो, वह कीलिका सहनन है। पूर्ववत् ऐसे कर्म का नाम भी वही है।

६—जिस रचना मे मर्कट-बन्ध वेठन और खीला न होकर, यो ही हड्डिया आपस मे जुडी हो, वह सेवार्त सहनन है। जिस कर्म के उदय से ऐसे सहनन की प्राप्ति होती है, उसका नाम भी सेवार्त सहनन है। सेवार्त का दूसरा नाम छेदवृत्त भी है। पूर्वोक्त

छह सहनन, औदारिक शरीर मे ही होते है, अन्य शरीरो मे नही।
सस्थाननाम कर्म के छह भेद और वर्णनाम कर्म के पाच भेद —

समचउरंसं निग्गोहसाइखुज्जाइ वामणं हुंड ।
संठाणा वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया ॥४०॥

(समचउरस) समचतुरस्त्र, (निग्गोह) न्यग्रोध, (साइ) सादि, (खुजइ) कुब्ज, (वामण) वामन और (हुण्ड) हुण्ड, ये (सठाणा) सस्थान है। (किण्ह) कृष्ण, (नील) नील, (लोहिय) लोहित–लाल, (हलिद) हारिन्द्र–पीला, और (सिया) सित–श्वेत, ये (वन्ना) व्रर्ण है ॥४०॥

भावार्थ – शरीर के आकार को सस्थान कहते है। जिस कर्म के उदय से सस्थान की प्राप्ति होती है, उस कर्म को 'सस्थान-नाम कर्म' कहते है। इसमे छह भेद हैं —

१—समका अर्थ है समान, चतु का अर्थ है चार और अस्त्र का अर्थ है कोण अर्थात् पालथी मारकर वैठने से जिस शरीर के चार कोण समान हो अर्थात् आसन और कपाल का अन्तर, दोनो जानुओक अन्तर, दक्षिण स्कन्ध और वाम जानुका अन्तर तथा वाम स्कन्घ और दक्षिण जानुका अन्तर समान हो तो समचतुरस्त्रसस्थान समझना चाहिये, अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव शुभ हो, उसे समचतु-रस्त्र सस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे सस्थान की प्राप्ति होती है, उसे समचतुरस्त्र सस्थान नाम कर्म कहते हैं।

२—वड के वृक्ष को न्यग्रोध कहते हैं। उसके समान, जिस शरीर मे, नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण हो, किन्तु नाभि से नीचे के अवयव हीन हो, वह न्यग्रोधपरिमण्डल सस्थान है।

जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है, उस कर्म का नाम न्यग्रोध परिमण्डल सस्थान नाम कर्म है।

३--जिस शरीर मे नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण और नाभि से ऊपर के अवयव हीन होते है, उसे सादि सस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे सस्थान की प्राप्ति होती है, उसे सादि सस्थान नाम कर्म कहते है।

४—जिस शरीर के हाथ, पैर, सिर, गर्दन आदि अवयव ठीक हो, किन्तु छाती, पीठ, पेट हीन हो, उसे कुब्जसस्थान कहते है। जिस कर्म के उदय से ऐसे सस्थान की प्राप्ति होती है, उसे कुब्ज सस्थान नाम कर्म कहते है। लोक मे कुब्ज को 'कुबडा' कहते है।

५—जिस शरीर मे हाथ, पैर आदि अवयव हीन—छोटे हो और छाती पेट आदि पूर्ण हो, उसे वामन सस्थान कहते है। जिस कर्म के उदय से ऐसे सस्थान की प्राप्ति होती है, उसे वामन सस्थान नाम कर्म कहते है। लोक मे वामन को 'बौना' कहते है।

६—जिसके समस्त अवयव बेढव हो-प्रमाण शुन्य हो, उसे हुण्ड सस्थान कहते है। जिस कर्म के उदय से ऐसे सस्थान की प्राप्ति होती है, उसे हुण्ड सस्थान नाम कर्म कहते हैं।

शरीर के रग को वर्ण कहते है। जिस कर्म के उदय से शरीरो मे जुदे जुदे रग होते है, उसे वर्ण नाम कर्म कहते है। उसके पाच भेद है—

१ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कोयले जैसा काला हो, वह कृष्ण वर्णनाम कर्म। २ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तोते के पख जैसा हरा हो, वह नील वर्णनाम कर्म। ३ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हिगुल या सिदूर

जैसा लाल हो, वह लोहित वर्णनाम कर्म। ४ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हल्दी जैसा पीला हो, वह हारिद्र वर्ण-नाम कर्म और ५ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शख जैसा सफेद हो वह सित वर्णनाम कर्म है।

गन्धनाम कर्म, रस नाम कर्म और स्पर्श नाम कर्म के भेद—

सुरहिदुरही रसा पण तित्तकडुकसायअंबिला महुरा।
फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्हसिणिद्धरुक्खऽट्ठा ॥४१॥

(मुरहि) मुरभि और (दुरही) दुरभि दो प्रकार का गन्ध है। (तित्त) तिक्त, (कडु) कटु, (कसाय) कषाय, (अविला) आम्ल और (महुरा) मधुर, ये (रसा पण) पाच रस है। (गुरु लघु मिउ खर सी उण्ह सिणिद्ध रुक्खऽट्ठा) गुरु, लघु, मृदु खर, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष, ये आठ (फासा) स्पर्श है।

भावार्थ—गन्धनाम कर्म के दो भेद हैं—सुरभिगन्ध नाम और दुरभिगण्ध नाम। १ जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की कपूर कस्तूरी आदि पदार्थो जैसी सुगन्धि होती है, उसे 'सुरभिगन्ध नाम कर्म' कहते हैं। तीर्थंकर आदि के शरीर सुगन्धित होते हैं। २ जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की लहसुन या सडे पदार्थो जैसी गन्ध हो, उसे 'दुरभिगन्धनाम कर्म' कहते हैं।

रसनाम कर्म के पाच भेद हैं—तिक्तनाम, कटुनाम, कषाय नाम, आम्लनाम और मधुरनाम। १ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस, नीम या चिरायते जैसा कडुवा हो, वह 'तिक्तरस नाम कर्म।' २ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस सोठ या काली मिर्च जैसा चरपरा हो, वह 'कटुरस नाम,

कर्म ।' ३ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस, आवला या बहेडे जैसा कसैला हो, वह 'कपायरस नाम कर्म ।' ४ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस, नीबू या इमली जैसा खट्टा हो वह 'आम्लरस नाम कर्म ।' ५ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस ईख जैसा मीठा हो, वह 'मधुररस नाम कर्म ।'

स्पर्शनाम कर्म के आठ भेद है -गुरु नाम, लघु नाम, मृदु नाम, खर नाम, शीत नाम, उष्ण नाम, स्निग्ध नाम और रुक्ष नाम । १ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी हो वह 'गुरुनाम कर्म ।' २ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आककी रुई (अर्क तूल) जैसा हलका हो वह 'लघुनाम कर्म ।' ३ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर मक्खन जैसा कोमल-मुलायम हो, वह 'मृदुस्पर्शनाम कर्म' । ४ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर गाय की जीभ जैसा कर्कश–खरदरा हो, वह कर्कश नाम कर्म ।' ५ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कमल-दण्ड या बर्फ जैसा ठडा हो, वह 'शीतस्पर्शनाम कर्म' । ६ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर अग्नि के समान उष्ण हो वह 'उष्णस्पर्शनाम कर्म ।, ७ जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर घी के समान चिकना हो वह 'स्निग्धस्पर्शनाम कर्म' । ८ और जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर, राख के समान रुक्ष–रुखा हो, वह 'रुक्षस्पर्शनाम कर्म' है ।

वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की बीस प्रकृतियो मे कौन प्रकृतिया शुभ और कौन अशुभ हैं, सो कहते है –

नीलकसिणं दुगंधं तित्तं कडुयं गुरु खरं रुक्खं ।
सीयं च असुहनवगं इक्कारसगं सुभं सेसं ॥४२॥

(नील) नीलनाम, (कसिण) कृष्णनाम, (दुगध) दुर्गन्ध

नाम, (तित्त) तिक्तनाम, (कडुय) कटुनाम, (गुरु) गुरुनाम, (खर) खरनाम, (रुक्ख) रुक्षनाम, (च) और (सीय) शीतनाम, यह (असुहनवग) अशुभ-नवक है अर्थात् नव प्रकृतिया अशुभ हैं और (सेस) शेष (इक्कारसग) ग्यारह प्रकृतिया (सुभ) शुभ हैं ॥ ४२ ॥

भावार्थ—वर्णनाम, गन्ध नाम, रस नाम और स्पर्श नाम इन चारो की उत्तर-पक्रृतिया २० हैं। २० प्रकृतियो मे ९ प्रकृतिया अशुभ और ११ शुभ है।

(१) वर्णनाम कर्म की दो उत्तर प्रकृतिया अशुभ हैं–१ नील वर्णनाम और २ कृष्ण वर्णनाम। तीन प्रकृतिया शुभ हैं -- १ सितवर्णनाम, २ पीतवर्णननाम और ३ लोहित वर्णनाम।

(२) गन्ध नामकी एक प्रगति अशुभ है–१ दुरभिगन्ध नाम। एक प्रकृति शुभ है–१ सुरभिगन्धनाम।

(३) रसनामकर्म की दो उत्तर प्रकृतिया अशुभ हैं.–१ तिक्तरसनाम और २ कटुरसनाम। तीन प्रकृतिया शुभ हैं–१ कषायरसनाम, २ आम्लरसनाम और ३ मधुर रसनाम।

(४) स्पर्शनाम कर्म की चार उत्तर-प्रकृतियां अशुभ हैं–१ गुरुस्पर्शनाम, २ खरस्पर्शनाम, ३ रुक्षस्पर्शनाम और ४ शीतस्पर्श नाम। चार उत्तर प्रकृतिया शुभ हैं —लघुस्पर्शनाम, २ मृदु-स्पर्शनाम ३ स्निग्धस्पर्शनाम और ४ उष्णस्पर्शनाम।

आनुपूर्वी नाम कर्म के चार भेद, नरक द्विक आदि सज्ञाए तथा विहायोगति नामकर्म—

चउह गइव्वणुपुव्वी गईपुव्विदुगं तिगं नियाउजुयं।
पुव्वीउदओ वक्के सुहअसुह वसुट्ट विहगगई ॥४३॥

(चउह गइव्वणुपुव्वी) चतुर्विध गतिनाम कर्म के समान

आनुपूर्वी नामकर्म भी चार प्रकार का है, (गइपुब्विदुग) गति और आनुपूर्वी ये दो, गति-द्विक कहलाते है (नियाउजुअ) अपनी अपनी आयु से युक्त द्विक का (तिग) त्रिक अर्थात् गति-त्रिक कहते है (वक्के) वक्र गति मे–विग्रह गति मे (पुव्वी-उदओ) आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है। (विहगगइ) विहायोगति नामकर्म दो प्रकार का है –(सुह असुह) शुभ और अशुभ इसमे दृष्टान्त है (वसुट्ट) वृष–बैल और उष्ट्र–ऊट ॥४३॥

भावार्थ—जिस प्रकार गतिनामकर्म के चार भेद है, उसी प्रकार आनुपूर्वी नाम कर्म के भी चार भेद है –(१) देवानुपूर्वी, (२) मनुष्यानुपूर्वी (३) तिर्यचानुपूर्वी और (४) नरकानुपूर्वी।

जीव की स्वाभाविक गति, श्रेणी के अनुसार होती है। आकाश-प्रदेशो की पक्ति को श्रेणी कहते है। एक शरीर को छोड दूसरा शरीर धारण करने के लिये जब जीव, समश्रेणी मे अपने उत्पत्ति स्थान के प्रति जाने लगता है तब आनुपूर्वी नाम-कर्म, उसे उसके विश्रेणी पतित उत्पत्ति स्थान पर पहुचा देता है। जीव का उत्पत्ति स्थान यदि समश्रेणी मे हो, तो आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय नही होता। अर्थात् वक्र गति मे आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय होता है, ऋजुगति मे नही।

कुछ ऐसे सकेत, जिनका कि आगे उपयोग है –

जहा 'गति-द्विक' ऐसा सकेत हो, वहा गति और आनु-पूर्वी ये दो प्रकृतिया लेनी चाहिये। जहा 'गति-त्रिक' आवे, वहा गति, आनुपूर्वी और आयु ये तीन प्रकृतिया ली जाती है। ये सामान्य सज्ञाए कही गई, विशेष सज्ञाओ को इस प्रकार समझना –

नरक-द्विक—१ नरक गति और २ नरकानुपूर्वी।

नरक-त्रिक—१ नरक गति, २ नरकानुपूर्वी और ३

नरकायु ।

तिर्यंञ्च-द्विक—१ तिर्यंचगति और २ तिर्यंचानुपूर्वी ।

तिर्यंञ्च-त्रिक—१ तिर्यंत्रगति, २ तिर्यंचानुपूर्वी और ३ तिर्यंचायु ।

इसी प्रकार सुर (देव)-द्विक, सुर-त्रिक, मनुष्य-द्विक, मनुष्यत्रिकको भी समझना चाहिये ।

पिण्ड-प्रकृतियो मे १४ वी प्रकृति, विहायोगतिनाम है, उसकी दो उत्तर प्रकृतिया है—१ शुभ विहायोगतिनाम और २ अशुभ-विहायोगतिनाम ।

१—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल शुभ हो, वह 'शुभ विहायोगति' जैसे कि हाथी, बैल, हस आदि की चाल शुभ है ।

२—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल अशुभ हो, वह 'अशुभ विहायोगति' जैसे कि ऊट, गधा, टीढी इत्यादि की चाल अशुभ है ।

पिण्ड प्रकृतियो के ६५, या १५ बन्धनो की अपेक्षा ७५ भेद कह चुके है । अब प्रत्येक-प्रकृतियो मे से पराघात और उच्छ्वास नाम कर्म कहते है —

परघाउदया पाणो परेसि बलिणं पि होइ दुद्धरिसो ।
ऊससणलद्धिजुत्तो हवेइ ऊसासनामवसा ॥ ४४ ॥

(परघाउदया) पराघात नाम कर्म के उदय से (पाणो) प्राणी (परेसि बलिणपि) अन्य बलवानो को भी (दुद्धरिसो) दुर्धर्ष—अजेय (होई) होता है । (ऊसासनामवसा) उच्छ्वास नाम कर्म के उदय से (ऊससणलद्धिजुत्तो) उच्छ्वास-लब्धि से युक्त (हवेइ) होता है ।

भावार्थ--इस गाथा मे लेकर ५१ वी गाथा तक प्रत्येक प्रकृत्तियो के स्वरूप का वर्णन करेगे। इम गाथा मे पराघात और उच्छ्वास नाम कर्म का स्वरूप इस प्रकार कहा है -

१—जिस कर्म के उदय से जीव, कमजोरो का तो कहना ही क्या है, वडे वडे वलवानो की दृष्टि मे भी अजेय ममझा जावे उसे 'पराघातनाम कर्म' कहते है। अर्थात् जिस जीव को इम कर्म का उदय रहता है, वह इतना प्रवल मालुम देता है कि वडे वडे वली भी उसका लोहा मानते हैं, राजाओ की सभा मे उसके दर्शन मात्र से अथवा वाक्कौशल्य से वलवान विरोधियो के छक्के छूट जाते है।

२—जिस कर्म के उदय से जीव, श्वामोच्छ्वास लब्धि से युक्त होता है, उसे 'उच्छ्वास मना कर्म' कहते हैं। शरीर से वाहर की हवा को नासिका-द्वारा अन्दर खीचना 'श्वास' है, और शरीर के अन्दर की हवा को नासिको-द्वारा वाहर छोडना 'उच्छ्वास'। इन दोनो कामो को करने की शक्ति उच्छ्वास नाम कर्म से होती है।

आतप नाम कर्म —

रविबिंबे उ जियंगं तावजुयं आयवाउ न उ जलणे।
जमुसिणफासस्स तहिं लेहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥४५॥

(आयवाउ) आतप नाम कर्म के उदय से (जियग) जीवो का अग (तावजुअ) ताप-युक्त होता है, और इस कर्म का उदय (रवि बिबेउ) सूर्य-मण्डल के पार्थिव शरीरो मे ही होता है। (न उ जलणे) किन्तु अग्नि काय जीवो के शरीर मे नही होता, (जमुसिणफासस्स तहि) क्योकि अग्निकाय के शरीर मे उष्ण स्पर्श नाम का और (लोहियवन्नस्स) लोहितवर्ण नाम का

(उदउत्ति) उदय रहता है ॥४५॥

भावार्थ—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर, स्वयं उष्ण न होकर भी, उष्ण प्रकाश करता है, उसे 'आतप नाम कर्म' कहते हैं सूर्य-मण्डल के बादर एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय जीवों का शरीर ठंडा है, परन्तु आतप नाम कर्म के उदय से वह (शरीर), उष्ण प्रकाश करता है। सूर्य-मण्डल के एकेन्द्रिय जीवों को छोडकर अन्य जीवों को आतप नाम कर्म का उदय नहीं होता। यद्यपि अग्नि काय के जीवों का शरीर भी उष्ण प्रकाश करता है, परन्तु वह आतप नाम कर्म के उदय से नहीं, किन्तु उष्णस्पर्श नाम कर्म के उदय से है और लोहित वर्णनाम कर्म के उदय से प्रकाश करता है।

उद्योतनाम कर्म का स्वरूप —

अणुसिणपयासरूवं जियंगमुज्जयए इहुज्जोया।
जइदेवुत्तरविक्किपलोइसखज्जोयमाइव्व ॥४६॥

(इह) यहां (उज्जोया) उद्योत नाम कर्म के उदय से (जियंग) जीवों का शरीर (अणुसिणपयासरूव) अनुष्ण प्रकाश रूप (उज्जोयए) उद्योत करता है, इसमें दृष्टान्त (जइदेवुत्तरविक्किय जोइसखज्जोयमाइव्व) साधु और देवों के उत्तर वैक्रिय शरीर की तरह, ज्योतिष्क—चन्द्र, नक्षत्र, ताराओं के मण्डल की तरह और खद्योत—जुगनू की तरह ॥४६॥

भावार्थ—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर उष्ण-स्पर्श रहित अर्थात् शीत प्रकाश फैलाता है, उसे 'उद्योत नाम कर्म' कहते हैं।

लब्धिधारी मुनि जब वैक्रिय शरीर धारण करते हैं, तब उनके शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है, सो इस उद्योतनाम

कर्म के उदय मे समझना चाहिये । इमी प्रकार देव जब अपने मूल शरीर की अपेक्षा उत्तर-वैक्रिय शरीर धारण करते है, तब उस शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है, सो उद्योतनाम कर्म के उदय से । चन्द्र मण्डल, नक्षत्र मण्डल और तारा मण्डल के पृथ्वीकाय जीवो के शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है, वह उद्योत नाम कर्म के उदय से । इसी प्रकार जुगनू, रत्न तथा प्रकाश वाली औषधियो को भी उद्योत नाम कर्म का उदय समझना चाहिये ।

अगुरुलघु नाम कर्म का और तीर्थ कर नाम कर्म का स्वरूप —

अग न गुरु न लहुयं जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।
तित्थेण तिहुयणस्स विपुज्जो से उदओ केवलिणो ॥४७॥

(अगुरुलहुउदया) अगुरुलघु नाम कर्म के उदय से (जीवस्स) जीव का (अग) शरीर (न गुरु न लहुय) न तो भारी और न हल्का (जायइ) होता है । (तित्थेण) तीर्थंकर नाम कर्म के उदय मे (तिहुयणस्स विपुज्जो) त्रिभुवन का भी पूज्य होता है, (से उदओ) उस तीर्थंकर नाम कर्म का उदय, (केवलिणो) जिसे कि केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसी को होता है ॥४७॥

भावार्थ—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर न भारी होता है और न हल्का, उसे अगुरुलघुनाम कर्म कहते है । अर्थात् जीवो का शरीर इतना भारी नही होता कि उसे सम्भालना कठिन हो जाय अथवा इतना हलका भी नही होता कि हवा मे उडने से नही बचाया जासके, किन्तु अगुरुलघु-परिमाण वाला होता है सो अगुरुलघुनाम कर्म के उदय से समझना चाहिये ।

जिस कर्म के उदय से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है,

उसे 'तीर्थङ्कर नाम कर्म' कहते हैं। इस कर्म का उदय उसी जीव को होता है, जिसे केवल ज्ञान (अनन्तज्ञान, पूर्ण ज्ञान) उत्पन्न हुआ है। इस कर्म के प्रभाव से वह अपरिमित ऐश्वर्य को भोगता है। संसार के प्राणियों को वह अपने अधिकार-युक्त वाणी से उस मार्ग को दिखलाता है, जिस पर खुद चल कर उसने कृतकृत्य दशा प्राप्त की है। इसलिये संसार के बडे से बडे शक्तिशाली देवेन्द्र और नरेन्द्र तक उसकी अत्यन्त श्रद्धा से सेवा करते हैं।

निर्माण नाम कर्म और उपघात नाम कर्म का स्वरूप.—

अङ्गोवङ्गनियमणं निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं ।
उवघाया उवहम्मइ सतणुवयवलंबिगाईहिं ॥४८॥

(निम्माण) निर्माण नाम कर्म (अंगोवंगनियमण) अङ्गों और उपाङ्गों का नियमन अर्थात् यथायोग्य प्रदेशों में व्यवस्थापन (कुणइ) करता है, इसलिये यह (सुत्तहारसम) सूत्रधार के सदृश है। (उवघाया) उपघात नाम कर्म के उदय से (सतणुवयवलंबिगाईहिं) अपने शरीर के अवयव-भूत लंबिका आदि से जीव (उवहम्मइ) उपहत होता है ॥४८॥

भावार्थ—जिस कर्म के उदय से, अङ्ग और उपाङ्ग, शरीर में अपनी अपनी जगह व्यवस्थित होते हैं, वह 'निर्माण नाम कर्म'। इसे सूत्रधार की उपमा दी है। अर्थात् जैसे कारीगर हाथ पैर आदि अवयवों को मूर्ति में यथोचित स्थान पर बना देता है इसी प्रकार निर्माण नाम कर्म का काम अवयवों को उचित स्थान में व्यवस्थापित करना है। इस कर्म के अभाव में अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म के उदय से बने हुए अङ्ग-उपाङ्गों के स्थान का नियम नहीं होता। अर्थात् हाथों की जगह हाथ, पैरों की जगह पैर, इस प्रकार स्थान का नियम नहीं रहता।

जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवो मे-प्रति जिह्वा (पडजीभ), चौरदन्त [ओष्ठ से बाहर निकले हुए दात], रसोली, छठी उगली आदि से क्लेश पाता है, वह 'उपघात-नाम कर्म' है।

त्रस-दशक मे त्रसनाम, बादर नाम और पर्याप्त नाम कर्म का स्वरूप —

बितिचउपणिदिय तसा बायरओ बायरा जिया थूला।
नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणेहि ॥४९॥

[तसा] त्रसनाम कर्म के उदय से जीव [बितिचउपणि-दिय] द्वीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय होते हैं। [बायरओ] बादर नाम कर्म के उदय से [जिया] जीव [बायरा] बादर अर्थात् [थूला] स्थूल होते है। [पज्जत्ता] पर्याप्तनाम कर्म के उदय से, जीव [नियनियपज्जत्तिजुया] अपनी अपनी पर्याप्तियो से युक्त होते है और वे पर्याप्त जीव [लद्धिकरणेहि] लब्धि और करण को लेकर दो प्रकार के हैं ॥४९॥

भावार्थ—जो जीव सर्दी-गर्मी से अपना बचाव करने के लिए एक स्थान को छोड दूसरे स्थान मे जाते है, वे 'त्रस' कह-लाते है, ऐसे जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय है।

जिस कर्म के उदय से जीव को त्रसकाय की प्राप्ति हो, वह त्रसनाम कर्म है। और जिस कर्म के उदय से जीव बादर अर्थात् स्थूल होते है, वह बादर नाम कर्म है।

आख जिसे देख सके वह बादर, ऐसा बादर का अर्थ नहीं है क्योंकि एक एक बादर पृथ्वीकाय आदि का शरीर आख से नहीं देखा जा सकता। बादर नाम कर्म, जीव-विपाकिनी प्रकृति

है वह जीव मे वादर-परिणाम को उत्पन्न करती है। यह प्रकृति जीवविपाकिनी होकर भी शरीर के पुद्गलो मे कुछ अभिव्यक्ति प्रकट करती है, जिससे वादर पृथ्वीकाय आदि का समुदाय, दृष्टि-गोचर होता है। जिन्हे इस कर्म का उदय नही है, ऐसे सूक्ष्म जीवो के समुदाय दृष्टिगोचर नही होते। यहा यह शङ्का होती है कि वादर नाम कर्म, जीवविपा की प्रकृति होने के कारण, शरीर के पुद्गलो मे अभिव्यक्ति-रूप अपने प्रभाव को कैसे प्रकट कर सकेगा ? इसका समाधान यह है कि जीवविपाकी प्रकृति का शरीर मे प्रभाव दिखलाना विरुद्ध नही है। क्योकि क्रोध, जीवविपाकी प्रकृति है। तथापि उससे भौहो का टेढा होना, आखो का लाल होना, होठो का फडकना इत्यादि परिणाम स्पष्ट देखा जाता है। साराश यह है कि कर्म-शक्ति विचित्र है, इसलिये वादर नामकर्म, पृथ्वीकाय आदि जीव मे एक प्रकार के वादर परिणाम को उत्पन्न करता है और वादर पृथ्वीकाय आदि जीवो के शरीर समुदाय मे एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट करता है जिससे कि वे शरीर दृष्टि-गोचर होते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव अपनी अपनी पर्याप्तियो से युक्त होते हैं, वह पर्याप्त नाम कर्म है। जीव की उस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं, जिसके द्वारा पुद्गलो को ग्रहण करने तथा तथा उनको आहार, शरीर आदि के रूप मे वदल देने का काम होता है। अर्थात् पुद्गलो के उपचय से जीव की पुद्गलो को ग्रहण करने तथा परिणमाने की शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं। विषय-भेद से पर्याप्ति के छह भेद हैं—आहार-पर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, उच्छ्वास-पर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति और मन-पर्याप्ति।

मृत्यु के वाद जीव, उत्पत्ति-स्थान मे पहुंच कर कार्मण-

शरीर के द्वारा जिन पुद्गलो को प्रथम समय मे ग्रहण करता है उनके छह विभाग होते है और उनके द्वारा एक साथ छहो पर्याप्तियो का बनना शुरू हो जाता है। अर्थात् प्रथम समय मे ग्रहण किये हुये पुद्गलो के छह भागो मे से एक एक भाग लेकर हर एक पर्याप्ति का बनना शुरू हो जाता है, परन्तु उनकी पूर्णता क्रमश होती है। जो औदारिक-जीव-धारी जीव है, उनकी आहार-पर्याप्ति एक समय मे पूर्ण होती है, और अन्य पाच पर्याप्तिया अन्तर्मुहूर्त्त मे क्रमश पूर्ण होती है। वैक्रिय शरीर-धारी जीवो की शरीर-पर्याप्ति के पूर्ण होने मे अन्तर्मुहूर्त्त समय लगता है और अन्य पाच पर्याप्तियो के पूर्ण होने मे एक एक समय लगता है।

१–जिस शक्ति के द्वारा जीव बाह्य आहार को ग्रहण कर उसे खल और रस के रूप बदल देता है, वह 'आहार पर्याप्ति' है।

२–जिस शक्ति के द्वारा जीव, रस रूप मे बदल दिये गये आहार को सात धातुओ के रूप मे बदल देता है, वह शरीर पर्याप्ति' है।

सात धातु–रस, खून, मास, चर्बी, हड्डी, मज्जा (हड्डी के अन्दर का पदार्थ) और वीर्य। यहा यह सन्देह होता है कि आहार-पर्याप्ति मे आहार का रस बन चुका है, फिर शरीर-पर्याप्ति के द्वारा भी रस बनाने की शुरुआत कैसे कही गई? इसका समाधान यह है कि आहार-पर्याप्ति के द्वारा आहार का जो रस बनता है, उसकी अपेक्षा शरीर-पर्याप्ति के द्वारा बना हुआ रस भिन्न प्रकार का होता है। और यही रस, शरीर के बनने मे उपयोगी है।

३–जिस शक्ति के द्वारा जीव, धातुओ के रूप मे बदले हुए आहार को इन्द्रियो के रूप मे बदल देता है, वह 'इन्द्रिय-

एकेन्द्रिय जीव को, पाच पर्याप्तिया विकलेन्द्रिय तथा असज्ञि पचेन्द्रिय को और छह पर्याप्तिया सज्ञिपचेन्द्रिय को होती हैं।

पर्याप्त जीवो के दो भेद हैं —लब्धि-पर्याप्त और करण पर्याप्त। १ जो जीव अपनी अपनी पर्याप्तियो को पूर्ण करके मरते है, पहले नही, वे 'लब्धि-पर्याप्त।' २ करण का अर्थ है इन्द्रिय, जिन जीवो ने इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण कर ली है। अर्थात् आहार, शरीर और इन्द्रिय, ये तीन पर्याप्तिया पूर्ण कर ली है, वे 'करण-पर्याप्त' है, क्योकि विना आहार-पर्याप्ति और शरीर-पर्याप्ति पूर्ण किये, इन्द्रिय-पर्याप्ति, पूर्ण नही हो सकती, इसलिये तीनो पर्याप्तिया ली गई। अथवा अपनी योग्य पर्याप्तिया, जिन जीवो ने पूर्ण की है वे जीव, करण पर्याप्त कहलाते है। इस तरह करण-पर्याप्त के दो अर्थ है।

प्रत्येक, स्थिर, शुभ और सुभग नाम कर्म के स्वरूप —

पत्तेय तणू पत्तेउदयेणं दतअट्ठिमाई थिरं।
नाभुवरि सिराइ सुह सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥५०॥

(पत्तेउदयेण) प्रत्येक नाम कर्म के उदय से जीवो को (पत्तेयतणू) पृथक पृथक शरीर होते है। जिस कर्म के उदय से (दन्तअट्ठिमाइ) दात, हड्डी आदि स्थिर होते है, उसे (थिर) स्थिर नाम कर्म कहते है। जिस कर्म के उदय से (नाभुवरि सिराइ) नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते है, उसे (सुह) शुभ नाम कर्म कहते हैं। (सुभगाओ) सुभगनाम कर्म के उदय से, जीव (सव्व-जणइट्ठो) सब लोगो को प्रिय लगता है ॥५०॥

भावार्थ–जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे प्रत्येक नाम कर्म कहते है। जिस कर्म के उदय से दात, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर अर्थात् निश्चल

होते हैं, उसे स्थिर नाम कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं, वह शुभ नाम कर्म। हाथ, सिर आदि शरीर के अवयवो से स्पर्श होने पर किसी को अप्रीति नही होती जैसे कि पैर के स्पर्श से होती है, यही नाभि के ऊपर के अवयवो मे शुभत्व है। जिस कर्म के उदय से, किसी प्रकार का उपकार किये बिना या किसी तरह के सम्बन्ध के विना भी जीव सवका प्रीति-पात्र होता हैं, उसे सुभग नाम कर्म कहते हैं।

सुस्वर नाम, आदेय नाम, यश. कीर्ति नाम और स्थावर-दशक–

सुसरा महुरसुहझुणी आवज्जा सव्वलोयगिज्झवओ।
जसओ जसकित्तीओ थावरदसगं विवज्जत्थं ॥५१॥

(सुसरा) सुस्वर नाम के उदय से (महुरसुहझुणी) मधुर और सुखद ध्वनि होती है। (आइज्जा) आदेय नाम के उदय से (सव्वलोयगिज्झवओ) सव लोग वचन का आदर करते हैं। (जसओ) यश कीर्ति नाम के उदय से (जसकित्ती) यश कीर्ति होती है। (थावर-दसग) स्थावर-दशक, (इओ) इससे–त्रस दशक से (विवज्जत्थ) विपरित अर्थ वाला है ॥५१॥

भावार्थ–जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर (आवाज) मधुर और प्रीतिकर हो, वह 'सुस्वर नाम कर्म' है। इसमे दृष्टान्त कोयल-मोर-आदि जीवो का स्वर है। जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्व-मान्य हो, वह 'आदेय नाम कर्म' है। जिस कर्म के उदय से संसार मे यश और कीर्ति फैले, वह 'यश कीर्ति नाम कर्म' है। किसी एक दिशा मे नाम (प्रशंसा) हो, तो 'कीर्ति' और सब दिशाओ मे नाम हो, तो 'यश' कहलाता है। अथवा–दान, तप आदि से जो नाम होता है, वह

कीर्ति और शत्रु पर विजय प्राप्त करने से जो नाम होता है, वह यश कहलाता है।

त्रस-दशक का—त्रस नाम आदि दस कर्मो का—जो स्वरुप कहा गया है, उससे विपरीत, स्थावर-दशक का स्वरुप हैं। यथा:—

१. जिस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहे—सर्दी-गर्मी मे बचने की कोशिश न कर सके, वह स्थावर नाम कर्म है। पृथिवीकाय, जलकाय, तेज काय, वायु काय, और वनस्पतिकाय, ये स्थावर जीव है यद्यपि तेज काय और वायुकाय के जीवो मे स्वाभाविक गति हैं तथापि द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवो की तरह सदी-गर्मी से वचने की विशिष्ट गति उनमे नही है।

२. जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म शरीर—जो किसी को रोक न सके ओर न खुद ही किसी से रुके-प्राप्त हो, वह सूक्ष्म नाम कर्म हैं। इस नाम कर्म वाले जीव भी पाच स्थावर ही होते है। वे सब लोकाकाश मे व्याप्त है। आख से नही देखे जा सकते।

३ जिस कर्म के उदय से जीव, स्वयोग्य-पर्याप्ति पूर्ण न करे, वह अपर्याप्त नाम कर्म। अपर्याप्त जीवों के दो भेद है—लब्ध्य पर्याप्त और करणापर्याप्त। जो जीव अपनी पर्याप्त पूर्ण किये बिना ही मरते है, वे लब्ध्य पर्याप्त। आहार, शरीर तथा इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियों को जिन्होने अव तक पूर्ण नही किया किन्तु आगे पूर्ण करने वाले हो, वे करणा पर्याप्त। लब्ध्य पर्याप्त जीव भी आहार-शरीर-इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियो को पूर्ण करके ही मरते हैं, पहले नही। क्योकि आगामी भव की आयु बांध कर ही सव प्राणी मरा करते है और आयु का वन्ध उन्ही जीवो को होता हैं, जिन्होने आहार, शरीर और इन्द्रिय, ये तीन

(गोय) गोत्र कर्म (दुहुच्चनीय) दो प्रकार का है —उच्च और नीय, यह कर्म (कुलाल इव) कुंभार के सदृश है, जो कि (सुगडभुंभलाईय) सुघट और मद्यघट आदि को वनाता है। (पाणे) दाने, (लाभे) लाभ, (भोगुवभोगेसु) भोग, उपभोग, (य) और (वीरिये) वीर्य, इनमे विघ्न करने के कारण, (विग्घ) अन्तराय कर्म पाच प्रकार का है ।।५२।।

भावार्थ—गोत्रकर्म ७ वा है। उसके दो भेद हैं-उच्चैर्गोत्र और नीचैर्गोत्र। यह कर्म कुंभार के सदृश है जैसे वह अनेक प्रकार के घडे बनाता है, जिन मे से कुछ ऐसे होते है, जिनको कलश बनाकर लोग अक्षत, चन्दन आदि से पूजते है, और कुछ ऐसे घडे होते है, जो मद्य रखने के काम मे आते है, अतएव वे निन्द्य समझे जाते है। इसी प्रकार —

१ जिस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल मे जन्म लेता है, वह 'उच्चैर्गोत्र' और २ जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल मे जन्म लेता है, वह 'नीचैर्गोत्र' है।

धर्म और नीति की रक्षा के सम्वन्ध से जिस कुलने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है वह उच्च-कुल। जैसे—इक्ष्वाकुवंश, हविवंश, चन्द्रवंश आदि। अधर्म और अनीति के पालने से जिस कुल ने चिरकाल से अप्रसिद्धि प्राप्त की है, वह नीच कुल। जैसे-भिक्षुक कुल, वधक कुल (कसाइयो का) मद्यविक्रेतृ कुल (दारू वेचने वालो का) चौर कुल इत्यादि।

अन्तरायकर्म, जिसका दूसरा नाम 'विघ्नकर्म' है, उसके पाच भेद है —१ दानान्तराय, २ लाभान्तराय, ३ भोगान्तराय, ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय।

१ दान की चीजे मौजूद हो, गुणवान् पात्र आया हो, दान का फल जानता हो तो भी जिस कर्म के उदय से जीव को

दान करने का उत्साह नही होता, वह 'दानान्तराय कर्म' है।

२ दाता उदार हो, दान की चीजे मौजूद हो, याचना में कुशलता हो तो भी जिस कर्म के उदय से लाभ न हो, वह लाभान्तराय कर्म है। यह न समझना चाहिये कि लाभान्तराय का उदय याचकों को ही होता है। यहा तो दृष्टान्त मात्र दिया गया है। योग्य सामग्री के रहते हुए भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति जिस कर्म के उदय से नही होने पाती, वह 'लाभान्तराय' है ऐसा इस कर्म का अर्थ है।

३. भोग के साधन मौजूद हो, वैराग्य न हो, तो भी, जिस कर्म के उदय से जीव, योग्य चीजो को न भोग सके, वह 'भोगान्तराय कर्म' है।

४ उपभोग की सामग्री मौजूद हो, विरति रहित हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव उपभोग्य पदार्थों का उपभोग न ले सके, वह 'उपभोगान्तराय कर्म' है।

जो पदार्थ एक बार भोगे जाये, उन्हे भोग कहते है, जैसे कि फल, फूल, जल, भोजन आदि। जो पदार्थ बार बार भोगे जाये उनको उपभोग कहते है, जैसे कि मकान, वस्त्र, आभूषण, स्त्री आदि।

५ वीर्य का अर्थ है सामर्थ्य। बलवान हो, रोग रहित हो युवा हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव एक तृणको भी टेढ़ा न कर सके, वह 'वीर्यान्तराय' कर्म है। वीर्यान्तराय के भेद तीन है—१ बालवीर्यान्तराय, २ पण्डितवीर्यान्तराय और ३ बाल-पण्डितवीर्यान्तराय।

१ सांसारिक कार्यों को करने में समर्थ हो तो भी जीव, उनको जिसके उदय से न कर सके, वह बालवीर्यान्तराय कर्म।

• सम्यग्दृष्टि साधु मोक्ष की चाह रखता हुआ भी, [illegible]

क्रियाओ को, जिसके उदय से न कर सके, वह 'पण्डितवीर्यान्त-रायकर्म। ३ देश विरति को चाहता हुआ भी जीव, उसका पालन, जिसके उदय से न कर सके, वह 'बालपण्डितवीर्यान्त-रायकर्म' है।

अन्तरायकर्म भण्डारी के सदृश है—

सिरिहरियसमं एयं जह पडिकूलेण तेण रायाई।
न कुणइ दाणाईयं एवं विग्घेण जीवोऽवि ॥५३॥

(एय) यह अन्तरायकर्म (सिरिहरियसम) श्रीगृही-भण्डारी के समान है, (जह) जैस (तेण) उसके-भण्डारी के (पडिकूलेण) प्रतिकूल होने से (रायाई) राजा आदि (दाणाईय) दान आदि (न कुणइ) नही करते-नही कर सकते। (एव) इस प्रकार (विग्घेण) विघ्नकर्म के कारण (जीवो वि) जीव भी दान आदि नही कर सकता ॥५३॥

भावार्थ—देवदत्त याचक ने राजा साहब के पास आकर भोजन की याचना की। राजा साहब, भण्डारी को भोजन देने की आज्ञा देकर चल दिये। भण्डारी असाधारण है। आखे लाल कर उसने याचक से कहा-"चुपचाप चल दो" याचक खाली हाथ लौट गया। राजा की इच्छा थी, पर भण्डारी ने उसे सफल होने नही दिया। इस प्रकार जीव राजा है, दान आदि करने की उसकी इच्छा है, पर अन्तरायकर्म इच्छा को सफल नही होने देता।

८ मूल-प्रकृतियो की तथा १५८ उत्तर-प्रकृतियो की सूची—

कर्म की ८ मूल-प्रकृतिया—१ ज्ञानवरणीय, २ दर्शनावर-णीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय।

ज्ञानावरण की ५ उत्तर-प्रकृतिया —१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मन पर्यायज्ञानावरण और ५ केवलज्ञानावरण ।

दर्शनावरण की ९ उत्तर-प्रकृतिया —१ चक्षुदर्शनावरण, २ अचक्षुदर्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण, ४ केवलदर्शनावरण, ५ निद्रा, ६ निद्रा निद्रा, ७ प्रचला, ८ प्रचला प्रचला और ९ स्त्यानर्द्धि ।

वेदनीय की २ उत्तर-प्रकृतिया —१ सातावेदनीय और २ असाता वेदनीय ।

मोहनीय की २८ उत्तर-प्रकृतिया —१ सम्यक्त्व मोहनीय २ मिश्र मोहनीय, ३ मिथ्यात्व मोहनीय, ४ अनन्तानुबन्धि क्रोध ५ अप्रत्याख्यान क्रोध, ६ प्रत्याख्यान क्रोध, ७ संज्वलन क्रोध ८ अनन्तानुबन्धिमान, ९ अप्रत्याख्यानमान, १० प्रत्याख्यानमान, ११ संज्वलन मान, १२ अनन्तानुबन्धिनी माया, १३ अप्रत्याख्यान माया, १४ प्रत्याख्यान माया, १५ संज्वलन माया, १६ अनन्तानुबन्धि लोभ, १७ अप्रत्याख्यान लोभ १८ प्रत्याख्यान लोभ, १९ संज्वलन लोभ, २० हास्य, २१ रति, २२ अरति, २३ शोक २४ भय, २५ जुगुप्सा, २६ पुरुषवेद, २७ स्त्री वेद और २८ नपुंसक वेद ।

शरीर नाम, १५ औदारिक अङ्गोपाग, १६ वैक्रिय अङ्गोपाग, १७ आहार अगोपाग, १८ औदारिक-औदारिक वन्धन, १९ औदारिक तैजस बन्धन, २० औदारिक-कार्मण बन्धन, २१ औदारिक-तैजस कार्मण बन्धन, २२ वैक्रिय-वैक्रिय वन्धन, २३ वैक्रिय-तैजस वन्धन २४ वैक्रिय-कार्मणवन्धन, २५ वैक्रिय तैजस कार्मण-वन्धन २६ आहारक-आहारक वन्धन, २७ आहारक तैजस वन्धन, २८ आहारक कार्मण वन्धन, २९ आहारक-तैजस-कार्मण वन्वन, ३० तैजस-तैजस बन्धन, ३१ तैजस कार्मण वन्धन, ३२ कार्मण-कार्मण वन्धन, ३३ औदारिक सघातन, ३४ वैक्रिय सघातन, ३५ आहारक सघातन, ३६ तैजस सघातन, ३७ कार्मण सघातन, ३८ वज्र ऋषभनाराचसहनन, ३९ ऋषभनाराचसहनन, ४० नाराच सहनन, ४१ अर्द्ध नाराच सहनन, ४२ कीलिका सहनन, ४३ सेवार्त सहनन, ४४ समचतुरस्र सस्थान, ४५ न्यग्रोध सस्थान, ४६ सादिसस्थान ४७ वामन सस्थान, ४८ कुब्ज सस्थान, ४९ हुण्ड सस्थान, ५० कृष्णवर्ण नाम, ५१ नीलवर्ण नाम, ५२ लोहितवर्ण नाम, ५३ हारिद्रवर्ण नाम, ५४ श्वेतवर्ण नाम, ५५ सुरभिगन्ध, ५६ दुरभिगध, ५७ तिक्तरस, ५८ कटुरस, ५९ कपायरस, ६० आम्लरस, ६१ मधुरस, ६२ कर्कश स्पर्श, ६३ मृदु स्पर्श, ६४ गुरु स्पर्श, ६५ लघु स्पर्श, ६६ शीत स्पर्श, ६७ उष्ण स्पर्श, ६८ स्निग्ध स्पर्श, ६९ रूक्ष स्पर्श, ७० नरकानुपूर्वी, ७१ तिर्यचानुपूर्वी, ७२ मनुष्यानुपूर्वी, ७३ देवानुपूर्वी, ७४ शुभ विहायोगति, ७५ अशुभ विहायोगति, ७६ पराघात, ७७ उच्छ्वास, ७८ आतप, ७९ उद्योत, ८० अगुरुलघु, ८१ तीर्थंकर नाम, ८२ निर्माण, ८३ उपघात, ८४ त्रस, ८५ वादर, ८६ पर्याप्त, ८७ प्रत्येक, ८८ स्थिर, ८९ शुभ, ९० सुभग, ९१ सुस्वर, ९२ आदेय, ९३ यश. कीर्ति, ९४ स्थावर, ९५ सूक्ष्म, ९६ अपर्याप्त, ९७ साधारण, ९८ अस्थिर, ९९ असुभ,

१०० दुर्भग, १०१ दु स्वर, १०२ अनादेय और १०३ अयश.कीर्ति।

गोत्र की २ उत्तर प्रकृतिया —१ उच्चैर्गोत्र, और नीचैर्गोत्र।

अन्तराय की ५ उत्तर प्रकृतिया:—१ दानान्तराय, २ लाभान्तराय, ३ भोगान्तराय, ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय।

बन्ध, उदय, उदीरणा, तथा सत्ता की अपेक्षा प्रकृतिया.—

कर्म नाम	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अन्तराय	कुल सख्या
बंध योग प्रकृतिया	५	९	२	२६	४	६७	२	५	१२०
उदययोग प्रकृतिया	५	९	२	२८	४	६७	२	५	१२२
उदीरणा-योग्य प्रकृतिया	५	९	२	२८	४	६७	२	५	१२२
सत्ता योग्य प्रकृतिया	५	९	२	२८	४	१०३ अथवा ९३	२	५	१५८ १४८

कर्मों के स्थूल बन्ध हेतु तथा ज्ञानावरणदर्शनावरण के बन्ध हेतु :—

पडिणीयत्तण निन्हव उवघायपओसअंतराएणं।

अच्चासायणयाए आवरणदुगं जिओ जयइ॥

(पडिणीयत्तण) प्रत्यनीकत्व अनिष्ट आचरण, (निन्हव) अपलाप, (उवघाय) उपघात—विनाश, (पओस) प्रद्वेप (अतराएण) अन्तराय और (अच्चासायणयाए) अतिआशातना, इनके द्वारा (जिओ) जीव, (आवरणदुग) आवरण-द्विक का ज्ञानावरणीयकर्म और दर्शनावरणीयकर्म का (जयइ) उपार्जन करता है ॥५४॥

भावार्थ—कर्म-वन्ध के मुख्य हेतु मिथ्यात्व, अविरति, कयषा और योग, ये चार हैं, जिनको कि चौथे कर्म-ग्रन्थ मे विस्तार से कहेगे। यहा सक्षेप से साधारण हेतुओ को कहते है। ज्ञानावरणीयकर्म और दर्शनावरणीयकर्म के वन्ध के साधारण हेतु ये है —

१ ज्ञानवान् व्यक्तियो के प्रतिकूल आचरण करना। २ अमुक के पास पढकर भी मैंने इनसे नही पढा है अथवा अमुख विपय को जानता हुआ भी मैं इस विपय को नही जानता इस प्रकार अपलाप करना। ३ ज्ञानियो का तथा ज्ञान के साधन-पुस्तक, विद्यामन्दिर आदि का, शस्त्र, अग्नि आदि से सर्वथा नाश करना। ४. ज्ञानियो तथा ज्ञान के साधनो पर प्रेम न करना-उन पर अरुचि रखना। ५ विद्यार्थियो के विद्याभ्यास मे विघ्न पहुंचाना, जैसे कि भोजन, वस्त्र, स्थान आदि स्थान का उनको लाभ होता हो, तो उसे न होने देना, विद्याभ्यास से छुडाकर उनसे अन्य काम करवाना इत्यादि। ६ ज्ञानियो की अत्यन्त आशातना करना, जैसे कि ये नीच कुल के है, इनके मा-वाप का पता नही है, इस प्रकार मर्मच्छेदी वातो को लोक मे प्रकाशित करना, ज्ञानियो को प्राणान्त कष्ट हो इस प्रकार के जाल रचना इत्यादि।

इसी प्रकार निपिद्ध देश (स्मशान आदि) निपिद्ध काल

(अनिपद्, दिन-रात का सन्धिकाल आदि) मे अभ्यास करना, पढाने वाले गुरु का विनय न करना, उगली मे थूक लगाकर पुस्तको के पन्ने उलटना, ज्ञान के साधन पुस्तक आदि को पैरो से हटाना, पुस्तको से तकिये का काम लेना, पुस्तको को भण्डार मे पड़े-पड़े सडने देना किन्तु उनका सदुपयोग न होने देना, उदर-पोषण को लक्ष्य मे रखकर पुस्तके वेचना, पुस्तको के पात्रो से जूते साफ करना, पढकर विद्या को वेचना, इत्यादि कामो से ज्ञानावरणकर्म का वन्ध होता है। इसी प्रकार दर्शनी-साधु आदि तथा दर्शन के साधन इन्द्रियो का नष्ट करना इत्यादि से दर्शनावरणीय कर्म का वन्ध होता है।

आत्मा के परिणाम ही वध और मोक्ष के कारण हैं इसलिए ज्ञानी और ज्ञान साधनो के प्रति जरा सी भी लापरवाही दिखलाना अपना ही घात करना है, क्योकि ज्ञान आत्मा का गुण है उसके अमर्यादित विकास को प्रकृति ने घेर रखा है। यदि प्रकृति के परदे को हटा कर उस अनन्त ज्ञान-शक्ति-रूपिणी देवी के दर्शन करने की लालसा हो, तो उस देवी का और उससे सम्बन्ध रखने वाली ज्ञानी तथा ज्ञान-साधनो का अत करण से आदर करो, जरासा भी अनादर करोगे तो प्रकृति का घेरा और भी मजबूत बनेगा। परिणाम होगा कि जो कुछ ज्ञान का विकास इस वक्त तुममे देखा जाता है वह और भी सकुचित हो जायगा। ज्ञान के परिच्छिन्न होने से—उसके मर्यादित होने से ही सारे दुखो की माला उपस्थित होती है, क्योकि एक [illegible] के बाद क्या अनिष्ट होने वाला है यह यदि तुम्हे मालूम हो तो तुम उस अनिष्ट से वचने की वहुत कुछ कोशिश कर सकते हो। सारांश यह है कि जिस गुण के प्राप्त करने से [illegible] अपरिमित आनद मिलने वाला है, उस गुण के अभिमुख

होने के लिये जिन-जिन कर्मों को न करना चाहिये उनको यहां दिखलाना दयालु ग्रंथकार ने ठीक ही समझा।

सातावेदनीय तथा असातावेदनीय के बंध के कारण —

गुरुभत्तिखतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ।
दढधम्माई अज्जइ सायमसायं विवज्जयओ ॥५५॥

(गुरुभत्तिखतिकरुणा - वयजोगकसायविजयदाणजुओ) गुरुभक्ति से युक्त, क्षमा-युक्त, करुणा-युक्त, व्रत-युक्त, योग-युक्त, कषाय-विजय-युक्त, दान-युक्त और (दढधम्माई) दृढ धर्म आदि (साय) सातावेदनीय का (अज्जइ) उपार्जन करता है,

मे व्याकुल हो रहे हैं, उन्हे भय से छुडाना, विद्यार्थियो को पुस्तको का तथा विद्या का दान करना। अन्न-दान से भी वढ कर विद्या-दान है, क्योकि अन्न से क्षणिक तृप्ति होती है, परन्तु विद्या-दान से चिरकाल तक तृप्ति होती है। सव दानो से अभय-दान श्रेष्ठ है, ८ धर्म मे—अपनी आत्मा के गुणो मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे अपनी आत्मा को स्थिर रखना।

गाथा मे आदि शब्द है, इसलिये वृद्ध, वाल, ग्लान आदि की वैयावृत्य करना, धर्मात्माओ को उनके धार्मिक कृत्य मे सहायता पहुचाना, चैत्य-पूजन करना इत्यादि भी सातावेदनीय के वध मे कारण हैं, ऐसा समझना चाहिये।

जिन कृत्यो से सातावेदनीयकर्म का वध कहा गया है, उनसे उलटे काम करने वाले जीव असातावेदनीयकर्म को वाधते हैं, जैसे कि—गुरुओ का अनादर करने वाला, अपने ऊपर किये हुये उपकारो का वदला लेने वाला, क्रूरपरिणाम वाला, निर्दय, किसी प्रकार के व्रत का पालन न करने वाला, उत्कट कषायो वाला, कृपण दान न करने वाला, धर्म के विषय मे वेपरवाह, हाथी, घोडे, वैल आदि पर अधिक वोझा लादने वाला, अपने आपको तथा औरो को शोक-संताप हो ऐसा वर्ताव करने वाला इत्यादि प्रकार के जीव।

साता का अर्थ है सुख और असाता का अर्थ है दुःख। जिस कर्म से सुख हो, वह सातावेदनीय अर्थात् पुण्य है। जिस कर्म से दुःख हो वह असातावेदनीय अर्थात् पाप है।

दर्शनमोहनीयकर्म के वध के कारण—

उम्मग्गदेसणा मग्गनासणा देवदव्वहरणेहि।
दंसणमोहं जिणमुणिचेइयसंघाइपडिणीओ ॥५६॥

(उम्मग्गदेसणा) उन्मार्गदेशना–असत् मार्ग का उपदेश, (मग्गनासणा) सत् मार्ग का अपलाप, (देवदव्वहरणेहिं) देवद्रव्य का हरण, इन कामो से जीव (दसणमोह) दर्शनमोहनीय कर्म को वाधता है, और वह जीव भी दर्शनमोहनीय को वाधता है जो (जिणमुणिचेइयसघाइपडिणीओ) जिन तीर्थकर, मुनि–साधु, चैत्य–जिन-प्रतिमाए, सघ–साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका इनके विरुद्ध आचरण करता हो ॥५६॥

भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्म के वध हेतु ये हैं —

१ उन्मार्ग का उपदेश करना–जिन कृत्यो से ससार की वृद्धि होती है उन कृत्यो के विषय मे इस प्रकार का उपदेश करना कि ये मोक्ष के हेतु हैं, जैसे कि देवी-देवो के सामने पशुओ की हिंसा करने को पुण्य-कार्य है ऐसा समझना, एकान्त से ज्ञान अथवा क्रिया का मोक्ष मार्ग वतलाना, दीवाली जैसे पर्वो पर जुआ खेलना पुण्य है इत्यादि उलटा उपदेश करना।

२ मुक्ति मार्ग का अपलाप करना—न मोक्ष है, न पुण्य-पाप है, न आत्मा ही है, खाओ पीओ, ऐशो-आराम करो, मरने के वाद न कोई आता है न जाता है, पास मे धन न हो तो कर्ज लेकर घी पीओ (ऋण कृत्वा घृत पिवेत्), तप करना तो शरीर को निरर्थक सुखाना है, आत्मज्ञान की पुस्तके पढना मानो समय को वरवाद करना है, इत्यादि उपदेश देकर भोले-भाले जीवो को सन्मार्ग से हटाना।

३ देव-द्रव्य का हरण करना–देव द्रव्य को अपने काम मे खर्च करना, देव-द्रव्य की व्यवस्था करने मे वेपरवाही दिखलाना, दूसरा कोई उसका दुरुपयोग करता हो तो प्रतिकार की सामर्थ्य रखते हुए भी मौन साध लेना, देव-द्रव्य से अपना व्यापार करना इसी प्रकार ज्ञान-द्रव्य तथा उपाश्रय द्रव्य का हरण भी

समझना चाहिये ।

४ जिनेन्द्र भगवान की निन्दा करना—जैसे दुनिया में कोई सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता, समवसरण में छत्र चामर आदि का उपभोग करने के कारण उनको वीतराग नहीं कह सकते आदि ।

५. साधुओं की निन्दा करना या उनसे शत्रुता करना ।

६. जिन-प्रतिमा की निन्दा करना या उसे हानि पहुचाना ।

७ सङ्घ की—साधु साध्वी-श्रावक-श्राविकाओं की निन्दा करना या उनसे शत्रुता करना ।

गाथा में आदि शब्द है, इसलिये सिद्ध, गुरु, आगम वगैरह भी लेना चाहिये अर्थात् उनके प्रतिकूल वर्ताव करने से भी दर्शन मोहनीय कर्म का बन्ध होता है ।

चारित्र मोहनीय कर्म के और नरकायु के बन्ध-हेतु —

दुविहंपि चरणमोहं कसायहासाइविसयविवसमणो ।
बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥५७॥

यहा यह समझना चाहिये कि चारो कपायो का–क्रोध मान माया लोभ का एक साथ ही उदय नही होता है। किन्तु चारो मे से किसी एक का उदय होता हे। इसी प्रकार आगे भी समझना।

अप्रत्याख्यानावरण नामक दूसरे कपाय के उदय से पराधीन हुआ जीव, अप्रत्याख्यान आदि १२ प्रकार के कपायो को बाधता है, अनन्ताबन्धियो को नही। प्रत्याख्यानावरण कपाय वाला जीव, प्रत्याख्यानावरण आदि आठ कपायो को बाधता है, अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण को नही। सज्वलन कपाय वाला जीव, सज्वलन के चार भेदो को बाधता है, औरो को नही।

२. हास्य आदि नोकषायो के उदय से जो जीव व्याकुल होता है, वह हास्य आदि ६ नोकपायो को बाधता है। (क) भाड जैसी चेष्टा करने वाला, औरो की हसी करने वाला, स्वय हसने वाला, वहुत बकवाद करने वाला जीव, हास्यमोहनीय कर्म को बाधता है। (ख) देश आदि के देखने की उत्कण्ठा वाला, चित्र खीचने वाला, खेलने वाला, दूसरे के मन को अपने आधीन करने वाला जीव रतिमोहनीयकर्म को बाधता है। (ग) ईर्ष्यालु, पाप-शील, दूसरे के सुखो का नाश करने वाला, बुरे कर्मों मे औरो को उत्साहित करने वाला जीव, अरतिमोहनीयकर्म को बाधता है। (घ) खुद डरने वाला, औरो को डराने वाला, औरो को त्रास देने वाला दया-रहित जीव, भयमोहनीयकर्म को बाधता है। (ङ) खुद शोक करने वाला, औरो को शोक कराने वाला, रोने वाला जीव, शोकमोहनीय कर्म को बाधता है। (ज) चतुर्विध सघ की निन्दा कराने वाला, घृणा करने वाला, सदाचार की निन्दा करने–वाला जीव, जुगुप्सा मोहनीय कर्म को बाधता है।

३, स्त्रीवेद आदि के उदय से जीव, वेदमोहनीयकर्मों को बांधता है। (क) ईर्ष्यालु विषयो मे आसक्त, अतिकुटिल, परस्त्री-लम्पट जीव, स्त्रीवेद को बांधता है। (ख) स्व-दार-सन्तोषी, मन्दकषाय वाला, सरल, शीलव्रती जीव, पुरुषवेद को बांधता है। (ग) स्त्री-पुरुष सम्बन्धी काम-सेवन करने वाला, तीव्र विषयाभिलाषी, सती स्त्रियो का शील भग करने वाला जीव, नपुंसक वेद को बांधता है।

४ नरक की आयु के बन्ध मे ये कारण हैं—(१) बहुत-सा आरम्भ करना, अधिक परिग्रह रखना। (२) रौद्र परिणाम करना। इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय प्राणियों का वध करना, मास खाना, बार-बार मैथुन-सेवन करना, दूसरे का धन छीनना, इत्यादि कामो से नरक की आयु का बन्ध होता है।

तिर्यञ्च की आयु के तथा मनुष्य की आयु के बन्ध-हेतु—

तिरियाउ गूढहियओ सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ।
पयईइ तणु कसाओ दाणरुई मज्झिमगुणो अ ॥५८॥

(गूढहियओ) गूढहृदय वाला अर्थात् जिसके दिल की बात कोई न जान सके ऐसा, (सढो) शठ-जिसकी जबान मीठी हो पर दिल में जहर भरा हो ऐसा, (ससल्लो) सशल्य अर्थात् अपयश कम हो जाने के भय से प्रथम किये हुए पाप कर्मों की आलोचना न करने वाला, ऐसा जीव (तिरियाउ) तिर्यंच की आयु बांधता है, (तहा) उसी प्रकार (पयईइ) प्रकृति से-ही (तणुकसाओ) तनु अर्थात् अल्पकषायवाला, (दाणरुई) दान करने में जिसकी रुचि है ऐसा (अ) और (मज्झिमगुणो) मध्यम गुणों वाला अर्थात् मनुष्यायु बन्ध के योग्य क्षमा, मृदुता आदि गुणों वाला जीव (मणुस्साउ) मनुष्य की आयु को बांधता

है, क्योकि अधमगुणो वाला नरकायु को और उत्तमगुणो वाला देवायु को वाधता है, इसलिये मध्यगुणो वाला कहा गया ॥५८॥

देवायु, शुभनाम और अशुभनाम के बन्ध हेतु —

अविरयमाइ सुराउ बालतवोऽकामनिज्जरो जयइ ।
सरलो अगारविल्लो सुहनामं अन्नहा असुहं ॥५९॥

(अविरयमाइ) अविरत आदि, (बालतवोऽकामनिज्जरो) बालतपस्वी तथा अकामनिर्जरा करने वाला जीव (सुराउ) देवायु का (जयइ) उपार्जन करता है। (सरलो) निष्कपट और (अगार-विल्लो) गौरव-रहित जीव (सुहनाम) शुभनाम को वाधता है। (अन्नहा) अन्यथा–विपरीत–कपटी और गौरव वाला जीव अशुभनाम को बाधता है ॥५९॥

भावार्थ—ये जीव देवायु को बाधते है—१ अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य अथवा तिर्यच, देशविरत अर्थात् श्रावक और सराग-सयमी साधु। २ बाल तपस्वी अर्थात् आत्म स्वरूप को न जानकर अज्ञानपूर्वक कायक्लेश आदि तप करने वाला मिथ्यादृष्टि। ३ अकामनिर्जरा अर्थात् इच्छा के न होते हुए भी जिसके कर्म की निर्जरा हुई है ऐसा जीव। तात्पर्य यह है कि अज्ञान से भूख, प्यास, ठडी, गरमी को सहन करना, स्त्री की अप्राप्ति से शील को धारण करना इत्यादि से जो कर्म की निर्जरा होती है, उसे 'अकामनिर्जरा' कहते है।

जो जीव शुभनामकर्म को बाधते है, वे ये है —

१ सरल अर्थात् माया–रहित–मन–वाणी–शरीर का व्यापार जिसका एकसा हो ऐसा जीव शुभनाम को बाधता है। २ गौरव-रहित। तीन प्रकार का गौरव है–ऋद्धि-गौरव, रस-गौरव और सात-गोरव। ऋद्धि का अर्थ है ऐश्वर्य–धन सम्पति,

अपने आपको महत्त्वशाली समझना, यह ऋद्धिगौरव है। मधुर आम्ल आदि रसो से अपना गौरव समझना यह रस गौरव है। शरीर के आरोग्य का अभिमान रखना सात गौरव है। इन तीनो प्रकार के गौरव से रहित जीव शुभनामकर्म को बाधता है। इसी प्रकार पाप से डरने वाला, क्षमावान, मार्दव आदि गुणो से युक्त जीव शुभनाम को बाधता है। जिन कृत्यो से शुभनाम कर्म का बन्धन होता है उनसे विपरीत कृत्य करने वाले जीव अशुभनामकर्म को बाधते है जैसे कि—

मायावी अर्थात् जिनके मन, वाणी और आचरण मे भेद हो, दूसरो को ठगने वाले, झूठी गवाही देने वाले, घी मे चर्बी और दूध मे पानी मिला कर बेचने वाले, अपनी तारीफ और दूसरो की निंदा करने वाले, वेश्याओ को वस्त्र-अलकार आदि देने वाले, देव-द्रव्य, उपाश्रय और ज्ञानद्रव्य खाने वाले या उसका दुरुपयोग करने वाले, ये जीव अशुभ नाम को अर्थात् नरकगति-अयश.-कीर्ति एकेन्द्रिय जाति आदि कर्मो को बाधते है।

गोत्र कर्म के बन्ध हेतु —

गुणपेही मयरहिओ अज्झयणऽज्झावणारुई निच्चं।
पकुणइ जिणाइभत्तो उच्चं नीयं इयरहा उ ॥६०॥

(गुणपेही) गुण-प्रेक्षी—गुणो को देखने वाला, (मयरहिओ) मद-रहित—जिसे अभिमान न हो, (निच्च) नित्य (अज्झयणऽज्झावणारुई) अध्ययनाध्यापनरुचि—पढने-पढाने मे जिसकी रुचि है, (जिणाइभत्तो) जिन भगवान् आदि का भक्त ऐसा जीव (उच्च) उच्चगोत्र का (पकुणइ) उपार्जन करता है। (इयरहा उ) इतरथा तु—इससे विपरीत तो (जीव) नीच गोत्र को बाधता है ॥६०॥

भावार्थ—उच्चैर्गोत्रकर्म के वाधने वाले जीव इस प्रकार के होते है —

१ किसी व्यक्ति मे दोपो के रहते हुए भी उनके विपय मे उदासीन, सिर्फ गुणो को ही देखने वाले। २ आठ प्रकार के मदो से रहित अर्थात् जातिमद, कुलमद, वलमद, रूपमद, श्रुतमद, ऐश्वर्यमद, लाभमद और तपोमद इनसे रहित। ३ हमेश पढने-पढाने मे जिनका अनुराग हो, ऐसे जीव। ४ जिनेन्द्र भगवान्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, माता, पिता, तथा गणवानो की भक्ति करने वाले जीव। ये उच्चगोत्र को वाधते है।

जिन कृत्यो से उच्चगोत्र का वन्धन होता है, उनसे उलटे काम करने वाले जीव नीचगोत्र को वाधते है अर्थात् जिनमे गुण-दृष्टि न होकर दोप-दृष्टि हो, जाति-कुल आदि का अभिमान करने वाले, पढने-पढाने से जिन्हे घृणा हो, तीर्थंकर-सिद्ध आदि महा-पुरुषो मे जिनकी भक्ति न हो, ऐसे जीव नीचगोत्र को वाधते है।

अन्तरायकर्म के वन्ध-हेतु तथा ग्रन्थ समाप्ति —

जिणपूयाविग्घकरो हिसाइपरायणो जयइ विग्घं।
इय कम्मविवागोयं लिहिओ देविदसूरिहि ॥ ६१ ॥

(जिणपूयाविग्घकरो) जिनेन्द्र की पूजा मे विघ्न करने वाला तथा (हिसाइपरायणो) हिसा आदि मे तत्पर जीव (विग्घ) अन्तरायकर्म का (जयइ) उपार्जन करता है। (इय) इस प्रकार (देविदसूरिहि) श्री देवेन्द्रसूरिने (कम्मविवागोय) इस कर्म-विपाक नामक ग्रन्थ को (लिहिओ) लिखा ॥६१॥

भावार्थ—अन्तरायकर्म को बाँधने वाले जीव —जो जीव

परिशिष्ट

श्वेताम्बार-दिगम्बर के कर्म विपयक मतभेद —

प्रकृति भेद—इसमे प्रकृति शद्व के दो अर्थ किये गये है-

स्वभाव और समुदाय। श्वेताम्बरी कर्म साहित्य मे ये दोनो अर्थ पाये जाते है। तथा (लोकप्रकाश सर्ग १०, श्लोक १३७) .—

प्रकृतिस्तु स्वभावः स्याद् ज्ञानावृत्यादि कर्मणाम्।
यथा ज्ञानाच्छादनादिः स्थितिः कालविनिश्चयः॥

तथा एक प्राचीन गाथा —

ठिइबंधदलस्स ठिइ पएसबंधो पएसगहण जं।
ताणरसो अणुभागो तस्समुदायो पगइबधो ॥१॥

परन्तु दिगम्बरीय साहित्य मे 'प्रकृति' शद्व का केवल स्वभाव अर्थ ही उल्लिखित मिलता है। यथा (तत्त्वार्थ अ ८ सू ३ सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक)—

"प्रकृति स्वभावः"

"प्रकृति. स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्"

'पायडी सीलसहावो."—कर्मकाण्ड गाथा २

इनमे जानने योग्य बात यह है कि स्वभाव-अर्थ-पक्ष मे तो अनुभागबन्ध का मतलब कर्म की फल जनक शक्ति की शुभाशुभता तथा तीव्रता-मन्दता से ही है, परन्तु समुदाय-अर्थ-पक्ष मे यह बात नही। उस पक्ष मे अनुभागबन्ध से कर्म की फल-जनक शक्ति और उसकी शुभाशुभता तथा तीव्रता-मन्दता इतना अर्थ विवक्षित है। क्योकि उस पक्ष मे कर्म का स्वभाव (शक्ति) अर्थ भी अनुभागबन्ध शद्व से ही लिया जाता है।

कर्म के मूल ८ तथा उत्तर १४८ भेदो का जो कथन है, सो माध्यमिक विवक्षा से, क्योंकि वस्तुत कर्म के असस्यात प्रकार है। कारणभूत अध्यवसायो मे असंख्यात प्रकार का तरतमभाव होने से तज्जन्य कर्म शक्तिया भी असंख्यात प्रकार की ही होती है, परन्तु उन सबका वर्गीकरण, ८ या १४८ भागो मे इसलिये किया है कि जिससे सर्वसाधारण को समझने मे सुभीता हो, यही बात गोम्मटसार (कर्मकाण्ड गाथा ७) मे भी कही है —

त पुण अट्ठविहं वा अडदालसय असखलोगं वा ।
ताण पुण घादित्ति अघादित्ति य होंति सण्णाओ ॥

आठ कर्म प्रकृतियो के कथन का जो क्रम है, उसकी उपपत्ति पंचसंग्रह की टीका मे, कर्म विपाक की टीका मे, श्री जयसोमसूरि-कृत टबे मे तथा श्री जीवविजयजी-कृत बालावबोध मे इस प्रकार दी हुई है —उपयोग, यह जीव का लक्षण है। इसके ज्ञान और दर्शन दो भेद है। जिनमे से ज्ञान प्रधान माना जाता है। ज्ञान से कर्म-विषयक शास्त्र का या किसी अन्य शास्त्र का विचार किया जा सकता है। जब कोई भी लब्धि प्राप्त होती है तब जीव ज्ञानोपयोग-युक्त ही होता है। मोक्ष की प्राप्ति भी ज्ञानोपयोग के समय मे ही होती है। अतएव ज्ञान के आवरण-भूत कर्म-ज्ञानावरण का कथन सबसे पहले किया है। दर्शन की प्रवृत्ति, मुक्त जीवो को ज्ञान के अनन्तर होती है, इसी से दर्शनावरण कर्म का कथन पीछे किया है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनो कर्मो के तीव्र उदय से दुःख का तथा उनके विशिष्ट क्षयोपशम से सुख का अनुभव होता है, इसलिये वेदनीय कर्म का कथन, इन दो कर्मों के बाद किया है। वेदनीय कर्म के अनन्तर मोहनीय कर्म के कहने का आशय यह है कि सुख-दुःख

वेदने के समय अवश्य ही रागद्वेष का उदय हो आता है। मोह-नीय के अनन्तर आयु का पाठ इसलिये है कि मोह-व्याकुल जीव आरम्भ आदि करके आयु का बन्ध करता ही है। जिसको आयु उदय हुआ उसे गति आदि नाम कर्म भी भोगने पडते ही हैं, इस बात को जानने के लिये आयु के पश्चात् नामकर्म का उल्लेख है। गति आदि नामकर्म के उदय वाले जीव को उच्च या नीचगोत्र का विपाक भोगना पडता है, इसी से नाम के बाद गोत्र कर्म है। उच्च गोत्र वाले जीवो को दानातराय आदि का क्षयोपशम होता है और नीच गोत्र-विपाकी जीवो को दानान्तराय आदि का उदय रहता है, इसी आशय को बतलाने के लिये गोत्र के पश्चात् अन्त-राय का निर्देश किया है।

गोम्मटसार मे दी हुई उपपत्ति मे कुछ-कुछ भेद भी है। जैसे–अन्तरायकर्म, घाति होने पर भी सबसे पीछे अर्थात् अघाति-कर्म के पीछे कहने का आशय इतना ही है कि वह कर्म घाति होने पर भी अघाति कर्मो की तरह जीव के गुण का सर्वथा घात नही करता तथा उसका उदय, नाम आदि अघातिकर्मा के निमित्त से होता है। तथा वेदनीय अघाति होने पर भी उसका पाठ घातिकर्मो के बीच इसलिये किया गया है कि वह घातिकर्म की तरह मोहनीय के बल से जीव के गुण का घातक है (क गा १७-१९)

अर्थावग्रह के नैश्चयिक और व्यावहारिक दो भेद शास्त्र मे पाये जाते है (तत्त्वार्थ-टीका पृ ५७)। जिनमे से नैश्चयिक अर्थावग्रह, उसे समझना चाहिये जो व्यजनावग्रह के बाद, पर ईहा के पहले होता है तथा जिसकी स्थिति एक समय की है।

व्यावहारिक अर्थावग्रह, अवाय (अपाय) को कहते है, पर सब अवाय को नही, किन्तु जो अवाय ईहा को उत्पन्न करता

है इसीको। किसी वस्तु का अव्यक्त ज्ञान (अर्थावग्रह) होने के बाद उसके विशेष धर्म का निश्चय करने के लिये ईहा (विचारणा या सम्भावना) होती है, अनन्तर उस धर्म का निश्चय होता है, वही अपाय कहलाता है। एक धर्म का अवाय हो जाने पर फिर दूसरे धर्म के विषय में ईहा होती है और पीछे से उसका निश्चय भी हो जाता है। इस प्रकार जो-जो अवाय, अन्य धर्म विषयक ईहा को पैदा करता है वह सब व्यावहारिक अर्थावग्रह में परिगणित है। केवल उस अवाय को अवग्रह नहीं कहते, जिसके अनन्तर ईहा उत्पन्न न होकर धारणा ही होती है।

से उसमे भी माना गया है, परन्तु उसमे विशेपता यह देखी जाती है कि श्वेताम्बर-साहित्य मे पद के प्रमाण के सम्बन्ध मे सब आचार्य, आम्नाय का विच्छेद दिखाते है, तब दिगम्बर-शास्त्र मे पद का प्रमाण स्पष्ट लिखा पाया जाता है। गोम्मटसार में १६३४ करोड, ८३ लाख, ७ हजार ८८८ अक्षरो का एक पद माना है। बत्तीस अक्षरो का एक श्लोक मानने पर उतने अक्षरो के ५१,०८, ८४, ६२१।। श्लोक होते हैं। तथा (जीवकाण्ड गाथा ३३५)—

सोलससयचउतीसा कोडी तियसीदिलक्खयं चेव।
सत्तपहस्साट्ठसया अट्ठासीदी य पदवण्णा ।।

इस प्रमाण मे ऊपर लिखे हुए उस प्रमाण से बहुत फेर नही है, जो श्वेताम्बर-शास्त्र मे कही-कही पाया जाता है। इसमे पद के प्रमाण के सम्बन्ध मे श्वेताम्बर-दिगम्बर साहित्य को एक वाक्यता ही सिद्ध होती है।

मन पर्यायज्ञान के ज्ञेय (विपय) के सम्बन्ध मे दो प्रकार का उल्लेख पाया जाता है। पहले मे यह लिखा है कि मन पर्यायज्ञानी मन पर्यायज्ञान से दूसरो के मन में व्यवस्थित पदार्थ-चिन्त्यमान पदार्थ को जानता है, परन्तु दूसरा उल्लेख यह कहता है कि मन पर्यायज्ञान से चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान नही होता, किन्तु विचार करने के समय, मन की जो आकृतिया होती है उन्ही का ज्ञान होता है और चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान पीछे से अनुमान द्वारा होता है। पहला उल्लेख दिगम्बरीय साहित्य का है (सर्वार्थसिद्धि पृष्ट १२४, राजवार्तिक पृष्ट ५८ और जीवकाण्ड गाथा ४३७-४४७ और दूसरा उल्लेख श्वेताम्बरीय साहित्य का है (तत्त्वार्थ अ. १ सू २४ टीका, आवश्यक गा ७६ की टीका, विशेपावश्यकभाष्य पृ ३९० गा ८१३-८१४ और लोकप्रकाश

कहा गया है। उसमे जो यह कहा है कि "स्त्यानगृद्धिनिद्रा के समय, वासुदेव जितना वल प्रगट होता है, सो वज्रऋषभनाराचसहनन की अपेक्षा से जानना। अन्य सहनन वालो को उस निद्रा के समय, वर्तमान युवको के वल से आठ गुना बल होता है"—यह अभिप्राय कर्मग्रन्थ-वृत्ति आदि का है। जीवकल्पवृत्ति मे तो इतना और भी विशेष है कि "वह निद्रा, प्रथम सहनन के सिवाय अन्य सहनन वालो को होती ही नही और जिसको होने का सम्भव है वह भी उस निद्रा के अभाव मे अन्य मनुष्यो से तीन चार गुना अधिक वल रखता" (लोक स १०, श्लो १५०)

मिथ्यात्वमोहनीय के तीन पु जो की समानता छाछ से शोधे हुये शुद्ध, अशुद्ध और अर्धविशुद्ध कौदो के साथ, की गई है। परन्तु गोम्मटसार मे इन तीन पु जो को समझाने के लिये चक्की से पीसे हुए कौदो का दृष्टान्त दिया गया है। उसमे चक्की से पीसे हुये कौदो के भूसे के साथ अशुद्ध पुंजो की, तडुले के साथ शुद्ध पु जो की और कण के साथ अर्धविशुद्ध पु ज की वरावरी की गई है। प्राथमिक उपशमसम्यक्त्व-परिणाम (ग्रन्थिभेद-जन्य सम्यक्त्व) जिससे मोहनीय के दलिक शुद्ध होते है उसे चक्कीस्थानीय माना है। (कर्मकाण्ड गाथा २६)

कषाय के ४ विभाग किये हैं, सो उसके रस की (शक्ति की) तीव्रता-मन्दता के आधार पर। सबसे अधिक-रस वाले कषाय को अनन्तानुवन्धी, उससे कुछ कम-रस वाले कपाय को अप्रत्यख्यानावरण, उससे भी मन्दरस वाले कपाय को प्रत्याख्यानावरण और सबसे मन्दरस वाले कपाय को सज्वलन कहते है।

इस ग्रन्थ की गाथा १८ वी मे उक्त ४ कषायो का जो कालमान कहा गया है, वह उनकी वासना का समझना चाहिये।

वासना, असर (सस्कार) को कहते हैं। जीवन-पर्यन्त स्थिति वाले अनन्तानुवन्धी का मतलव यह है कि वह कषाय इतना तीव्र होता है कि जिसका असर जिन्दगी तक बना रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का असर वर्ष-पर्यन्त माना गया है। इसी प्रकार अन्य कषायो की स्थिति के प्रमाण को भी उनके असर की स्थिति का प्रमाण समझना चाहिये। यद्यपि गोम्मटसार मे वतलाई हुई स्थिति, कर्मग्रन्थवर्णित स्थिति से कुछ भिन्न है यद्यपि उसमे (कर्मकाण्ड-गाथा ४६ मे) कषाय के स्थिति-काल को वासनाकाल स्पष्टरूप से कहा है। यह ठीक भी जान पडता है। क्योंकि एक वार कषाय हुआ कि पीछे उसका असर थोडा वहुत रहता ही है। इसलिए उस असर की स्थिति को ही कषाय की स्थिति कहने मे कोई विरोध नही है।

कर्मग्रन्थ मे और गोम्मटसार मे कषायो को जिन जिन पदार्थों की उपमा दी है, वे सव, एक ही है। भेद केवल इतना ही है कि प्रत्याख्यानावरण लोभ को गोम्मटसार मे शरीर के मल की उपमा दी है और कर्मग्रन्थ मे खजन (कज्जल) की। [जीव गा २८६]

पृष्ट ५० अपवर्य आयु का स्वरूप दिखाया है। इसके वर्णन मे जिस मरण को 'अकालमरण' कहा है, उसे गोम्मटसार मे 'कदलीघातमरण' कहा है। यह 'कदलीघात' शब्द अकाल मृत्यु अर्थ मे अन्यत्र दृष्टिगोचर नही होता। [कर्मकाण्ड, गाथा ५७]

सहनन शब्द का अस्थिनिचय (हड्डियो की रचना) जो अर्थ किया गया है, सो कर्मग्रन्थ के मतानुसार। सिद्धात के मतानुसार सहनन का अर्थ शक्ति-विशेष है। यथा प्राचीन वृ. क टीका—

"सुत्तो सत्तिविसेसो संघयणमिहट्ठिनिचउत्ति"—पृष्ठ ९९

कर्मविपयक साहित्य की कुछ ऐसी सज्ञाए आगे दी जाती है कि जिनके अर्थ मे श्वेताम्वर-दिगम्वर-साहित्य मे थोडा-वहुत भेद दृष्टिगोचर होता हे —

श्वेताम्वर	दिगम्वर
प्रचलाप्रचलानिद्रा, वह है जो मनुप्य को चलते-फिरते भी आती है।	प्रचलाप्रचला का उदय जिस आत्मा को होता हे उसके मुंह से लार टपकती है तथा उसके हाथ-पाव आदि अग कापते है।
निद्रा, उस निद्रा को कहते है जिसमे सोता हुआ मनुष्य अनायास उठाया जा सके।	निद्रा—इसके उदय से जीव चलते चलते खडा रह जाता है और गिर भी जाता है। ※
प्रचला, वह निद्रा है जो खडे हुए या वैठे हुए प्राणी को भी आती है।	प्रचला के उदय से प्राणी नेत्र को थोडा मुद कर सोता है, सोता हुआ भी थोडा ज्ञान करता रहता है और वार वार मन्द निन्द्रा लिया करता है। ×
गतिनामकर्म से मनुष्य नारक—आदि पर्याय की प्राप्ति मात्र होती है।	गतिनामकर्म, उस कर्म प्रकृति को कहा है जिसके उदय से आत्मा भवान्तर को जाता है।

※ कर्मकाण्ड गाथा २४।

+ कर्मकाण्ड गाथ २५।

निर्माण नाम कर्म का कार्य अङ्गोपाङ्गो को अपने-अपने स्थान मे व्यवस्थित करना इतना ही माना गया है।

निर्माण नाम कर्म के स्थान-निर्माण और प्रमाण-निर्माण, ये दो भेद मानकर इनका कार्य अगोपागो को यथास्थान व्यवस्थित करना और प्रमाणोपेत बनाना है।

आनुपूर्वी नामकर्म, सम-श्रेणि से गमन करते हुए जीव को खीच कर, उसे उसके विश्रेणिपतित उत्पत्ति स्थान को पहुचाता है।

आनुपूर्वी नामकर्म का प्रयोजन पूर्व शरीर छोडने के बाद और नया नया शरीर धारण करने के पहले—अन्तराल गति मे जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बनाये रखना है।

उपघात नामकर्म के मतभेद से दो कार्य है। १ यह कि गले मे फासी लगाकर या कही ऊचे से गिरकर अपने ही आप आत्म-हत्या की चेष्टा द्वारा दुःखी होना, २ पडजीभ, रसोली, छठी उगली, बाहर निकले हुए दात आदि से तकलीफ पाना। +

उपघात नामकर्म—इसके उदय मे प्राणी, फासी आदि मे अपनी हत्या कर लेता और दुःख पाता है।

शुभ नामकर्म से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते

शुभ नाम—यह कर्म, रमणीयता का कारण है।

+ श्री यशोविजयजी-कृत कम्मपयडी व्याख्या पृष्ठ ५।

है ।

अशुभ नामकर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव अशुभ होते है ।

स्थिर नामकर्म के उदय से सिर, हड्डी, दात आदि अवयवो मे अस्थिरता आती है ।

अस्थिर नामकर्म से सिर, हड्डी, दात आदि अवयवो मे अस्थिरता आती है ।

जो कुछ कहा जाय उसे लोग प्रमाण समझ कर मान लेते और सत्कार आदि करते है, वह आदेयनाम कर्म का फल है । आदेयनाम कर्म का कार्य उससे उलटा है अर्थात् हितकारी वचन को भी लोग प्रमाण-रूप नही मानते और न सत्कार आदि ही करते है ।

दान-तप-शौर्य-आदि-जन्य यश से जो प्रशसा

अशुभ नामकर्म, उसका उदय कुरुप का कारण है ।

स्थिर नामकर्म के उदय मे शरीर तथा धातु-उपधातु मे स्थिर भाव रहता है जिससे कि उपसर्ग-तपस्या आदि अन्य कष्ट सहन किया जा सकता है ।

अस्थिर नामकर्म से अस्थिर भाव पैदा होता है जिससे थोडा भी कष्ट नही सहा जाता ।

आदेय नामकर्म, इसके उदय से शरीर, प्रभा-युक्त वनता है । इसके विपरीत आदेय नामकर्म से शरीर प्रभा-हीन होता है ।

यश कीर्तिनामकर्म, यह पुण्य और गुणो के कीर्तन

होती है उसका कारण यशः कीर्तिनामकर्म है। अथवा एक दिशा में फैलने वाली ख्याति को यशः कहते हैं। इसी तरह दान-पुण्य-आदि से होने वाली महत्ता को यशः कहते हैं। कीर्ति और यशः का सम्पादन यशः कीर्ति नामकर्म से होता है।	का कारण है।

कुछ संज्ञाएं ऐसी भी हैं जिनके स्वरूप में दोनों सम्प्रदायों में किञ्चित् परिवर्तन हो गया है—

सादि, सादिसंहनन ।	स्वातिसंहनन ।
ऋषभनाराच ।	वज्रनाराचसंहनन ।
कीलिका ।	कीलित ।
सेवार्त ।	असंप्राप्तासृपाटिका ।

कर्मग्रन्थ भाग १ के प्रश्नोत्तर

१-श्री शब्द के कितने अर्थ होते हैं?

श्री शब्द का अर्थ लक्ष्मी होता है। लक्ष्मी दो प्रकार की होती है —

१ अन्तरग लक्ष्मी और २ वाह्य लक्ष्मी।

२-अन्तरग लक्ष्मी किसे कहते है?

२-अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, और अनन्तवीर्य आदि स्वाभाविक गुणो को अन्तरग लक्ष्मी कहते हैं।

३-बहिरग लक्ष्मी किसे कहते है?

अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, भामडल, आसन, दुन्दुभि, आतपत्र इन आठ महाप्रतिहार्य आदि को बाह्य लक्ष्मी कहते है।

४-जिन किसे कहते हैं?

मोह, राग, द्वेष काम, क्रोध आदि अन्तरग शत्रुओ को जीत कर जिसने केवल्य प्राप्त कर लिया है, उसे जिन कहते है।

५-प्रकृतिबन्ध किसे कहते है?

जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलो मे अलग-अलग स्वभावो का या शक्तियो का पैदा होना प्रकृतिबन्ध है।

६-स्थितिबन्ध किसे कहते है?

जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलो [illegible] काल तक इसके लगाने [illegible]

साथ रहने की काल मर्यादा को स्थितिवन्ध कहते है।

प्र० ७-अनुभाग बन्ध किसे कहते है ?

उ० जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलो मे रस के तरतम भाव का या फल देने का न्यूनाधिक शक्ति का होना रस बन्ध कहलाता है। रस बन्ध को अनुभाग बन्ध भी कहते है।

प्र० ८-प्रदेश बध किसे कहते है ?

उ० जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धो का सम्बन्ध होना प्रदेशबध कहलाता है।

प्र० ९-ज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते हैं ?

उ० जो कर्म आत्मा के ज्ञान गुणो को आच्छादित करे, ढक दे, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते है।

प्र० १०-दर्शनावरणीय कर्म किसे कहते है ?

उ० जो कर्म आत्मा के दर्शन गुणो को अच्छादित करे, उमे दर्शनावरणीय कहते कर्म है।

प्र० ११-वेदनीय कर्म किसे कहते है ?

उ० वेदनीय कर्म उसे कहते है, जो आत्मा को सुख दुख पहुचावे।

प्र० १२-मोहनीय कर्म किसे कहते है ?

जो कर्म स्व-पर विवेक मे तथा स्वरुप रमण मे बाधा पहुचाता है वह मोहनी कर्म है या जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घातकरे उसे मोहनीय कर्म कहते है।

प्र० १३-आयु कर्म किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के अस्तित्व से जीव जीता है तथा क्षय से मरता है, वह आयु कर्म कहलाता हैं।

प्र० १४-नाम कर्म किसे कहते है ?

जिस कर्म के उदय से जीव नरक तिर्यंच, देव आदि
नामो से जाना जाय व कहा जाता है या अमुक जीव
नारक है, तिर्यंच है, मनुष्य है आदि नामो से कहा
जाना है वह नाम कर्म है।

१५-गौत्र कर्म उसे महते है ?
गौत्र कर्म किसे कहते है, जो कर्म आत्मा को उच्च या
नीच कुल मे पैदा करवाता है।

१६-अन्तराय कर्म किसे कहते हैं ?
जो कर्म आत्मा के वीर्य दान लाभ, भोग, उपभोग, रुप
शक्तियो का घात करने वाला है, वह अन्तराय कर्म है।

१७-मतिज्ञान किसे कहते है ?
इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे
मतिज्ञान कहते है।

१८-श्रुतज्ञान किसे कहते हैं ?
शास्त्रो के वाचने और सुनने से जो अर्थ ज्ञान होता
है, उसे श्रुत ज्ञान कहते है।

१९-अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?
इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना, मर्यादा को
लिये हुए स्थान तक रुप वाले द्रव्यो का जो ज्ञान होता
है वह अवधिज्ञान है।

२०-मन पर्याय ज्ञान किसे कहते है ?
इन्द्रिय तथा मन की मदद के बिना मर्यादा को लिये
हुये सन्नी जीवो के मनोगत भावो को जानना, मन.
पर्याय ज्ञान कहलाता है।

२१-केवल ज्ञान किसे कहते हैं ?
संसार के भूत, भविष्य, वर्तमान काल के सम्पूर्ण

और वर्तमान का जिससे ज्ञान होता है। वह दीर्घ-कालिक सज्ञा है। सज्ञा श्रुत मे जो सज्ञी लिये जाते है वे दीर्घकालिकी सज्ञा वाले है। यह सज्ञा देव, नारक, गर्भज, तिर्यच और मनुष्यो को होती है।

प्र० २६-हेतु वादोपदेशिकी सज्ञा किसे कहते है ?

उ० अपने शरीर के पालने के लिये इष्ट वस्तु मे प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तु मे निवत्ति के लिये उपयोगी, मात्र वर्तमान कालिकी ज्ञान जिससे होता है, उसे हेतु वादोपदेशिकी सज्ञा कहते है। यही सज्ञाद्वीन्द्रिय आदि असज्ञी जीवो को होती है।

प्र० २७-दृष्टिवादोपदेशिकी सज्ञा किसे कहते है ?

उ० यह सज्ञा चतुर्दशपूर्वधारी मुनिराज को होती है।

प्र० २८-असज्ञी श्रुत किसे कहते हैं।

उ० जिन जीवो को मन ही नही है वे असज्ञी है, उनका श्रुत, असज्ञी श्रुत कहा जाता है।

प्र० २९-सम्यक श्रुत किसे कहते है ?

उ० सम्यग्दृष्टि जीवो का श्रुत, सम्यक श्रुत है।

प्र० ३०-मिथ्यादृष्टि श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० मिथ्यादृष्टि जीवो का श्रुत, मिथ्या श्रुत कहा जाता है।

प्र० ३१-सादि श्रुत किसे कहते है ?

उ० जिसका आदि हो, वह सादि श्रुत है।

प्र० ३२-अनादि श्रुत किसे कहते है ?

उ० जिसका आदि न हो, वह अनादि श्रुत है।

प्र० ३३-सपर्यवसित श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० जिसका अन्त हो, वह सपर्यवसित श्रुत है।

२४-अपर्यवसित श्रुत किसे कहते है ?

जिसका अन्त न हो, वह अपर्यवसित श्रुत है।

२५-गमिक श्रुत किसे कहते है ?

जिसमे एक समान पाठ हो, वह गमिक श्रुत है। जैसे –दृष्टिवाद।

२६-अगमिक श्रुत किसे कहते है ?

जिसमे एक समान पाठ न हो, वह अगमिक श्रुत है।

२७-अगप्रविष्ट श्रुत किसे कहते है ?

आचाराग आदि बारह प्रकार के अङ्गो के ज्ञान को अगप्रविष्ट श्रुत कहते है।

को अक्षर समास श्रुत कहते है।

प्र० ४३-पद श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० जिस अक्षर समुदाय से पूरा अर्थ मालूम हो, वह पद, और उसके ज्ञान को, पद श्रुत कहते है।

प्र० ४४-पद समास श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० पदो के समुदाय का ज्ञान, को पद समास श्रुत कहते है।

प्र० ४५-सघात श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० गति आदि चौदह मार्गणाओ मे से, किसी एक मार्गणा के एक देश के ज्ञान को सघात-श्रुत कहते हैं, जैसे -गति मार्गणा केचार अवयव है ? देवगति, तिर्यन्च गति, मनुष्य गति, और नरक गति, इनमे से एक का ज्ञान को सघात श्रुत कहते है।

प्र० ४६-सघात समास श्रुत किसे कहते है।

किसी एक मार्गणा के अनेक अवयवो का ज्ञान को सघात समास श्रुत कहते है।

प्र० ४७-प्रतिपत्ति श्रुत किसे कहते है ?

उ० गति, इन्द्रिय आदि द्वारो मे से किसी एक द्वार के जरिये समस्त ससारी जीवो को जानना प्रतिपत्ति श्रुत है।

प्र० ४८-प्रतिपत्ति समास श्रुत किसे कहते है ?

उ० गति आदि २, ४, द्वारो के जरिये से जीव के ज्ञान को प्रतिपत्ति समास श्रुत कहते है ?

प्र० ४९-अनुयोग श्रुत किसे कहते है ?

उ० सत्प्ररूपणादिक [illegible] मे, जो शास्त्र मे कहे गए, अनुयोग द्वारों मे से किसी एक के द्वारा [illegible]

पदार्थों को जानना, अनुयोग श्रुत कहते हैं।

प्र० ५०-अनुयोग समास श्रुत किसे कहते है ?

उ० एक से अधिक २, ३, अनुयोग द्वारो का ज्ञान, अनुयोग श्रुत समास कहते हैं।

प्र० ५१-प्राभृत-प्राभृत श्रुत किसे कहते है ?

उ० दृष्टिवाद के अन्दर प्राभृत-पाभृत नामक अधिकार है, उनमे से किसी एक का ज्ञान प्राभृत-प्राभृत श्रुत है।

प्र० ५२-प्राभृत-प्राभृत समास श्रुत किसे कहते है ?

उ० दो, चार, प्राभृत-प्राभृत के ज्ञान को प्राभृत-प्राभृत समास श्रुत कहते है।

प्र० ५३-प्राभृत श्रुत किसे कहते है ?

उ० जिस प्रकार कई उद्देश्यो का एक अध्ययन होता है, उसी प्रकार कई प्राभृत-प्राभृतो का एक प्राभृत होता है, उस एक का ज्ञान, प्राभृत श्रुत है।

प्र० ५४-प्राभृत समास श्रुत किसे कहते है ?

उ० एक से अधिक प्राभृतो का ज्ञान, प्राभृत समास श्रुत है।

प्र० ५५-वस्तु श्रुत किसे कहते है ?

उ० कई प्राभृतो का एक वस्तु नामक अधिकार होता है, उस एक का ज्ञान, वस्तु श्रुत हैं।

प्र० ५६-वस्तु समास श्रुत किसे कहते है ?

उ० दो, चार, वस्तुओ का ज्ञान, वस्तु समास श्रुत है।

प्र० ५७-पूर्व श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० अनेक वस्तुओ का एक पूर्व होता है, उसका एक का ज्ञान करना पूर्व श्रुत है।

प्र० ५८-पूर्व समास श्रुत किसे कहते हैं ?

उ० दो, चार यावत् १४ पूर्वो का ज्ञान, पूर्व समास-श्रुत है।

प्र० ५९-अनुगामी अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उ० एक जगह से दूसरी जगह जाने पर भी जो अवधिज्ञान आख के समान साथ ही रहे, उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते है।

प्र० ६०-अननुगामी अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उ० जो अनुगामी से उल्टा हो, अर्थात् जिस जगह अवधिज्ञान प्रकट हो, वहा से दूसरी जगह जाने पर कायम न रहे, उसे अननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

प्र० ६१-वर्धमान अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उ० जो अवधिज्ञान, परिणाम विशुद्ध के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिये दिन-दिन बढे, उसे वर्धमान अवधिज्ञान कहते है।

प्र० ६२-हीयमान अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उ० जो अवधिज्ञान परिणामो की अशुधि के साथ-साथ दिन-दिन घटे कम हो जाय उसे ही हीयमान अवधिज्ञान कहते है।

प्र० ६३-प्रतिपाति अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उ० जो अवधिज्ञान, फूंक से दीपक के प्रकाश की भांति एकाएक गायब हो जाय, चला जाय उसे प्रति प्रतिपाति अवधिज्ञान कहते हैं।

प्र० ६४-अप्रतिपाति अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

जो अवधि ज्ञान, केवल ज्ञान से अन्तर्मुहूर्त पहले प्रकट प्रकट होता है और बाद में केवल ज्ञान में समाविष्ट हो जाता है, उसे अप्रतिपाति अवधिज्ञान कहते हैं। इसी अप्रतिपाति को परमावधि भी कहते हैं।

प्र० ६५-द्रव्य से अवधिज्ञान कितना जानता है ?

उ० अवधिज्ञानी जघन्य से अनन्त रूपी द्रव्यो को जानता और देखता है, उत्कृष्ट सम्पूर्ण रूपी द्रव्यो को जानते तथा देखते है ।

प्र० ६६-क्षेत्र से कितना जानते है ?

उ० अवधिज्ञानी जघन्य अगुल के असख्यातवे भाग जितने क्षेत्र के रूपी द्रव्यो को जानते और देखते है । उत्कृष्ट अलोक मे, लोक प्रमाण असख्यखण्डो को जान सकते है तथा देख सकते है ।

प्र० ६७-काल से कितना जानते हैं ?

उ० जघन्य अवधिज्ञानी आवलिका के असख्यातवे भाग जितने काल के रूपी द्रव्यो को जानता तथा देखता है और उत्कृष्ट असख्य उत्सर्पिणी अवसर्पिणी प्रमाण, अतीत अनागत काल के रूपी पदार्थों को जानता तथा देखते है ।

प्र० ६८-भाव से कितना जानते है ?

उ० जघन्य अवधिज्ञानी रूपी द्रव्यो के अनन्त भावो को-पर्याय को जानते तथा देखते हैं । उत्कृष्ट अनन्तानन्त भावो को जानता तथा देखता है ।

प्र० ६९-ऋजुमति मन पर्याय ज्ञान किसे कहते है ?

उ० दूसरे के मन मे स्थित पदार्थ के सामान्य स्वरुप को जानना अर्थात् इसने घड़े को लाने का विचार किया है । इत्यादि साधारण रूप से जानना ।

प्र० ७०-विपुलमति मन पर्याय ज्ञान किसे कहते है ?

उ० दूसरे के मन मे स्थित पदार्थ के अनेक पर्यायो को जानना अर्थात् इसने जिस घडे का विचार किया है । वह अमुक धातु का है, अमुक देश का, अमुक रग का

इत्यादि। विशेष अवस्था के ज्ञान को विपुलमति-ज्ञान कहते हैं।

८५-द्रव्य से मनःपर्याय ज्ञान कितना जानता है?

ऋजुमति मनोवर्गणा के अनन्त प्रदेश वाले अनन्त स्कन्धों को देखता है। विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा अधिक होती है।

८६-काल से कितना जानता है?

ऋजुमति पल्योपम के असंख्यातवे भाग जितने भूत-काल तथा भविष्यकाल के मनोगत भावों को देखता है। विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक काल के, मनोगत भावों को देखता है और जानता है।

८७-भाव से कितना जानते है?

ऋजुमति मनोगत द्रव्य के अनन्त पर्यायों को देखता है विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक पर्यायों को जानता और देखता है।

८८-मतिज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते हैं?

भिन्न-२ प्रकार के मतिज्ञानों के आवरण करने वाले, भिन्न-२ कर्मों को मतिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

कहते है ।

प्र० ७७-मन पर्यायज्ञानावरणीय किसे है ?

उ० मन पर्यायज्ञान के आवरण करने वाले कर्मों को मन पर्यायज्ञानावरणीय कर्म कहते है ।

प्र० ७८-केवल ज्ञानावरणीय किसे कहते हैं ?

केवलज्ञान के आवरण करने वाले को केवलज्ञानावरणीय कहते हैं ।

प्र० ७९-चक्षुदर्शनावरणीय किसे कहते है ?

उ० आख के जरिए जो, पदार्थों के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उसे चक्षुदर्शन कहते है, उस सामान्य ग्रहण को रोकने वाले कर्म को चक्षुदर्शनावरणीय कहते है ।

प्र० ८०-अचक्षुदर्शनावणीय किसे कहते हैं ?

उ० आख को छोडकर त्वचा, जीभ, नाक, और मन से जो पदार्थों के सामान्य धर्म का, प्रतिभास होता है, उसे अचछुदर्शन कहते है, उसका जो आवरण करे उसे अचछुदर्शनावरणीय कहते है ।

प्र० ८१-अवधिदर्शनावरणीय किसे कहते हैं ?

उ० इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही आत्मा, को रुपी द्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, उसके आवरण करने को अवधिदर्शनावरणीय कहते है ।

प्र० ८२-केवलदर्शनावरणीय किसे कहते है ।

उ० ससार के सम्पूर्ण पदार्थो का जो सामान्य अवबोध होता है, उसे केवल दर्शन कहते है, उसका आवरण केवल दर्शनावरणीय कहा जाता है ।

प्र० ८३-निन्द्रा किसे कहते है ?

उ० जो सोया हुआ जीव थोडी सी आवाज से जागता है,

उसे जगाने मे अधिक मेहनत नही करना पडती, उसकी नीद को निद्रा कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आवे, उस कर्म का नाम 'निद्रा' है।

प्र० ८४-निद्रा किसे कहते है ?

उ० जो सोया हुआ जीव, बडे जोर से चिल्लाने या हाथ जोर से हिलाने से बडी मुश्किल से जागता है, उसकी नींद को निद्रा निद्रा कहते हैं।

प्र० ८५-प्रचला किसे कहते हैं ?

उ० लेटे-२ या बैठे-२ जिसको नीद आती है। उसकी नीद को प्रचला कहते है।

प्र० ८६-प्रचला प्रचला किसे कहते हैं ?

उ० चलते फिरते जिसको नींद आती है, उसकी नींद को प्रचला प्रचला कहते है, जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आवे, उसे प्रचला प्रचला नाम कर्म कहते हैं ?

प्र० ८७-स्त्यानगृद्धिनिद्रा किसे कहते हैं ?

उ० जो जीव, दिन मे अथवा रात मे सोचे हुए काम को नींद की हालत मे कर डालता है, उसकी नींद को स्त्यानगृद्धि निद्रा नाम कर्म कहते हैं।

प्र० ८८-साता वेदनीय किसे कहते हैं।

उ० जिस कर्म के उदय से आत्मा को विषय सम्बन्धी सुख का अनुभव होता है, वह साता वेदनीय कर्म है।

प्र० ८९-असाता वेदनीय किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति हो, अथवा प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से, दुःख का अनुभव होता है, वह असाता वेदनीय कर्म है।

प्र० ९०-दर्शन मोहनीय किसे कहते हैं ?

उ० जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही समझना, यह दर्शन है, अर्थात तत्वार्थ श्रधान को दर्शन कहते है। यह आत्मा का गुण है। इसके घात करने वाले कर्मों को दर्शनमोहनीय कर्म कहते है।

प्र० ९१-चारित्र मोहनीय किसे कहते ?

उ० जिसके द्वारा आत्मा अपने असली स्वरुप को पाता है, उसे चारित्र कहते है, यह भी आत्मा का गुण है, इसका घात करने वाला चारित्र मोहनीय कर्म है।

प्र० ९२-क्षायिकसम्यक्त्व किसे कहते है ?

उ० मिथ्यात्व, मोहनीय, मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोह-इन तीन प्रकृतियो के क्षय होने से आत्मा मे जो परि-णाम विशेप होते है, उसे क्षायिकसम्यक्त्व कहते है।

प्र० ९३-औपशमिक सम्यक्त्व किसे कहते है ?

उ० दर्शनमोहनीय की उपर कही हुई तीनो प्रकृतियो के उपशम से आत्मा मे जो परिणाम होता है, उसे औप-शमिक सम्यक्त्व कहते है।

प्र० ९४-क्षायोपशमिक सम्यक्त्व किसे कहते है ?

उ० मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय से तथा उपशम से और सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के उदय से, आत्मा मे जो परिणाम होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते है।

प्र० ९५-वेदवेंदक सम्यक्त्व किसे कहते है ?

उ० क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे वर्तमान जीव, जबसम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम पुद्गलो के रस का अनुभव करता है, उस समय के उसके परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते है ?

शुभ अशुभ परिणामो को उत्पन्न करने वाली अथवा शुभ अशुभ परिणामो से स्वयं उत्पन्न होने वाली प्रवृतियो को द्रव्याश्रव कहते है, आश्रवतत्व ४२ भेद हैं।

प्र० १०२-सवर किसे कहते हैं ?

उ० आते हुये नये कर्मों को रोकने वाला आत्मा का परिणाम, भाव सवर और कर्म पुद्गलो की रुकावट को द्रव्य सवर कहते हैं, सवर के ५७ भेद हैं।

प्र० १०३-बध किसे कहते है ?

उ० कर्म पुद्गलो का जीव-प्रदेशो के साथ, दूध पानी की तरह आपस मे मिलना द्रव्यबध है, द्रव्य बध को उत्पन्न करने वाले अथवा द्रव्य बध से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणामो को भाव बध कहते है। बध के चार भेद है।

प्र० १०४-मोक्ष किसे कहते हैं ?

उ० सम्पूर्ण कर्म-पुद्गलो का आत्म प्रदेश से जुदा हो जाना द्रव्य मोक्ष और द्रव्य मोक्ष के जनक अथवा द्रव्य मोक्ष जन्य आत्मा के विशुध परिणाम भाव मोक्ष है। मोक्ष के नव भेद है।

प्र० १०५-निर्जरा किसे कहते है ?

उ० कर्मो का एक देश आत्म प्रदेशो से जुदा होता है, वह द्रव्य निर्जरा और द्रव्य निर्जरा के जनक अथवा द्रव्य निर्जरा जन्य आत्मा के शुध परिणाम, भाव निर्जरा है, निर्जरा के बारह भेद है।

प्र० १०६-कपाय किसे कहते है ?

उ० कपाय का अर्थ है जन्म मरण रूप समार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति करना, उसे कपाय कहते है।

प्र० १०७–नो कषाय किसे कहते है ?

उ० कषायो के उदय के साथ जिनका उदय होता है, वे नोकषाय अथवा कषायो को उत्तेजित करने वाले हास्य आदिनवकोनोकषाय कहते है ।

प्र० १०८–अनन्तानुबधी किसे कहते है ?

उ० अनन्तानुबधी जीवन पर्यन्त रहता है, जिससे नरक गति की प्राप्ति होती है और समकित का घात होता है, क्रोध का स्वभाव पत्थर के स्तम्भ के समान, मान का स्वभाव पत्थर के खम्भे के समान, माया का स्वभाव बास का जड, लोभ का स्वभाव किरमिजी रग जैसा ।

प्र० १०९–अप्रत्याख्यानी कषाय किसे कहते है ?

उ० अप्रत्याख्यानी कषाय एक साल पर्यन्त रहता है, इसके उदय से तिर्यंच गति की प्राप्ति होती है । इसकी मर्यादा एक साल की है । देश विरति रूप चारित्र का घात करता है । अप्रत्याख्यानी क्रोध का स्वभाव सूखे तालाब की दरार के समान, मान का स्वभाव हड्डी स्तम्भ के समान, माया का स्वभाव भेड की सीग के समान लोभ का स्वभाव गाडी के खञ्जन के समान ।

प्र० ११०–प्रत्याख्यानी कषाय किसे कहते है ?

उ० प्रत्याख्यानी कषाय चार महीने पर्यन्त रहती है, इसके उदय से मनुष्य गति की प्राप्ति होती है, सर्वविरति रूप चारित्र का घात करता है, क्रोध का स्वभाव धूली मे लकीर के समान, मान का स्वभाव काष्ठ के स्तम्भ के समान, माया का स्वभाव बैल के [illegible]

के समान, लोभ का स्वभाव दीपक के काजल के समान।

प्र० १११-सज्वलन कषाय किसे कहते हैं ?

उ० सज्वलन कषाय एक पक्ष तक रहते हैं, इसके उदय से देव गति प्राप्त होती है, यथाख्यात चारित्र की घात करता है, क्रोध का स्वभाव पानी मे लकीर के समान, मान कार्वेत के, माया का वास के छिलके, लोभ का हरिद्र के समान स्वभाव होता है।

प्र० ११२-कारक समकित किसे कहते हैं ?

उ० जिनोक्त कार्य को करने से तथा गुरुवदन, गामायिक प्रतिक्रमण आदि को करना कारक समकित हैं।

प्र० ११३-रोचक समकित किसे कहते हैं ?

उ० जिनोक्त कार्य मे रुचि करना अर्थात् गुरुवदन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि, शुभ कार्य की रुचि करना रोचक समकित है।

प्र० ११४-दीपक समकित किसे कहते हैं ?

उ० जिनोक्त कार्य को अर्थात, गुरुवदन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि शुभ कार्य इनसे होने वाले लाभो का सभाओ मे समर्थन करना, दीपक समकित कहते है।

प्र० ११५-हास्य कर्म किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से कारण वश अर्थात भांड आदि की चेष्टा को देखकर अथवा विना कारण हसी आती है, वह हास्य मोहनीय कर्म कहलाता है।

प्र० ११६-रति कर्म किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से कारण वश अर्थात् विना कारण

पदार्थों मे अनुराग हो, प्रेम हो, वह रति मोहनीय कर्म कहते है।

प्र० ११७-अरति किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से कारणवश अर्थात् बिना कारण पदार्थों मे अप्रीति हो, उद्वेग हो, उसे अरति मोहनीय कर्म कहते हैं।

प्र० ११८-शोक कर्म किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से कारणवश अर्थात् बिना कारण शोक हो, वह शोक मोहनीय कर्म है।

प्र० ११९-भय मोहनीय किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से कारणवश अर्थात् बिना कारण शोक हो, वह शोक मोहनीय कर्म है।

प्र० १२०-जुगुप्सा मोहनीय किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से कारणवश अर्थात् बिना कारण मासादि बीभत्स पदार्थों को देखकर घृणा होती है, वह जुगुप्सा मोहनीय कर्म है।

प्र० १२१-स्त्री वेद किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह स्त्री वेद है। अभिलाषा में कारिषाग्नि का दृष्टान्त है।

प्र० १२२-पुरुष वेद किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा होती है, वह पुरुष वेद कर्म है, अभिलाषा मे तृणाग्नि का दृष्टान्त है।

प्र० १२३-नपुंसक वेद किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनो से साथ

रमण करने की इच्छा होती है। अभिलाषा मे नगर दाह का दृष्टान्त है।

प्र० १२४-गतिनाम कर्म क्या है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव, देव नारक आदि अवस्थाओ को प्राप्त करता है। गति नाम कर्म कहते हैं।

प्र० १२५-जाति नाम कर्म क्या है।

उ० जिस कर्म के उदय से जीव, एकेन्द्रियादि अवस्थाओ को प्राप्त करता है, उसे जाति नाम कर्म कहते हैं।

प्र० १२६-शरीर नाम कर्म क्या है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव को औदारिक, वैक्रिय, आदि शरीरो की प्राप्ति हो, उसे शरीर नाम कर्म कहते हैं। (तनु नाम कर्म भी कहते है)

प्र० १२७-अगोपाग नाम कर्म क्या है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव अग (सिर, पैरादि) और उगली उपाग (कपाल) के आकार मे पुद्गलो का परिणमन होता है, उसे अगोपाग नाम कर्म कहते है।

प्र० १२८-बधन नाम क्या है ?

उ० जिस कर्म के उदय से, प्रथम ग्रहण किये हुए औदारिक आदि शरीर पुद्गलो के साथ गृह्यमाण औदारिक आदि पुद्गलो का आपस से सम्बन्ध हो, उसे बधन नाम कर्म कहते है।

प्र० १२९-सघातन नाम कर्म क्या है ?

उ० जिस कर्म के उदय से शरीर योग्य पुद्गल प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर पुद्गलों पर व्यवस्थित रूप से स्थापित किये जाते हैं, उसे सघातन नाम कर्म कहते हैं।

के समान अशुभ होती है। उसे विहायोगति नाम कर्म कहते है।

प्र० १३८-अपवर्त्तनीयु कहते है ?

उ० बाह्य निमितो से जो आयु कम हो जाती है, उसे अपवर्तनीयु कहते है। तात्पर्य यह है कि जल मे डूबने, आग मे जलने, हथियार की चोट, जहर खाने से जो अकाल मृत्यु होती है, वह अपवर्तनीय आयु है।

प्र० १३९-अनपवर्त्तनीय आयु किसे कहते है ?

उ० जो आयु किसी भी कारण से कम न हो, अर्थात् जितने काल की पहले बाधी गई हैं। उतने काल तक भोगी जावे, उस आयु को अनपवर्त्तनीय कहते है।

प्र० १४०-नरक गति नाम कर्म किसे कहते है ?

उ० जिस नाम कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो, कि जिससे यह नारक हो, ऐसा कहा जाय, वह नरक गति नाम कर्म है।

प्र० १४१-तिर्यंचगति नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो, कि जिसे देख यह तिर्यंच है, ऐसा कहा जाय, वह तिर्यंचनाम कर्म है।

प्र० १४२-मनुष्य गति नाम कर्म किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि, जिसे देख यह मनुष्य है, ऐसा कहा जाय, वह तिर्यंच मनुष्य गति नाम कर्म है।

प्र० १४३-देवगति नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे यह देव है, ऐसा कहा जाय, देवगति नाम

कर्म है।

प्र० १८३-औदारिक शरीर किसे कहते हैं ?

उ० उदार अथवा प्रधान स्थूल पुद्गलो से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है, जिस कर्म से ऐसा शरीर मिले, उसे औदारिक शरीर कहते हैं।

प्र० १८४-वैक्रिय शरीर किसे कहते हैं ?

उ० जिस शरीर से विविध क्रियाएं होती है, वैक्रिय शरीर कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसा शरीर मिले, उसे वैक्रिय नाम कर्म कहते हैं। विविध क्रियाएं ये हैं। एक स्वरूप धारण करना, अनेक स्वरूप धारण करना, छोटा शरीर धारण करना या बनाना, अदृश्य शरीर बनाना भूमि पर चलने योग्य शरीर बनाना इत्यादि।

प्र० १८५-आहारक शरीर किसे कहते हैं ?

हुए) औदारिक पुद्गलों के साथ ग्राह्यमाण वर्तमान समय में जिनका ग्रहण किया जा रहा हो, ऐसे औदारिक पुद्गलों का आपस में मेल हो जावे, औदारिक बन्धन नाम कर्म कहते है।

[illegible]-वैक्रिय बन्धन किसे कहते है?

जिस कर्म से पूर्व गृहीत वैक्रिय पुद्गलों के साथ ग्राह्यमाण वैक्रिय पुद्गलों का आपस मे मेल होना, वैक्रिय बन्धन है।

उ० वज्र का अर्थ है खीला, ऋषभ का अर्थ है, वेष्टनपट्ट और नाराच का अर्थ है दोनो तरफ मर्कट बध, मर्कट बध से बधी हुई हो, हड्डियो के ऊपर तीसरी हड्डी का वेष्टन हो, और तीनो भेद ने वाली हड्डी का खीला जिस सहंनन मे पाया जाय, उसे वज्रऋषभनाराच-सहनन कहते है।

प्र० १५८-ऋषभनाराच सहनन किसे कहते है ?

उ० दोनो तरफ हाडो का मर्कट बन्ध हो, तीसरे हाड का वेष्टन हो, लेकिन तीनो को भेदने वाला हाड का खीला न हो, तो ऋषभनाराच सहनन कहते है।

प्र० १५९-नाराच सहनन किसे कहते है ?

उ० जिस रचना से छहोतरफ मर्कट बन्ध हो लेकिन वेष्टन और खीला न हो उसे नाराच सहनन कहते है जिस कर्म के उदय से नाराचसहनन नाम कर्म कहते है।

प्र० १६०-अर्धनाराच सहनन किसे कहते है ?

उ० जिस रचना मे एक तरफ मर्कट बन्ध हो और दूसरी तरफ खीला हो उसे अर्धनाराच सहनन कहते है।

प्र० १६१-किलिका सहनन किसे कहते है ?

उ० जिस रचना मे मर्कट बध और वेष्टन न हो किन्तु खीले से हड्डिया जुडी हो वह किलिका सहनन नाम कर्म कहते है।

प्र० सेवार्त सहनन किसे कहते है ?

उ० जिस रचना मे मर्कट, बधन, वेष्टन खीला न हो कर यो ही हड्डिया आपस मे जुडी हो वह सेवार्त सहनन नाम कर्म कहते है।

प्र० १६३-समचतुरस्र सस्थान किसे कहते है।

उ० सम का अर्थ है समान चतु का अर्थ है चार और अस्र का अर्थ है कोण अर्थात पालकी मारकर बैठने मे जिस शरीर के चारो कोण समान हों अर्थात आसन और कपाल का अन्तर दोनो जानुओ का अन्तर दक्षिण स्कन्ध और वाम जानु का अन्तर तथा वामस्कन्ध और दक्षिण जानु का अन्तर समान हो उसे समचतुरस्रसंस्थान नाम कर्म कहते है।

प्र० १६९—न्यग्रोध संस्थान किसे कहते है ?

उ० बड़ के वृक्ष को न्यग्रोध कहते है। उसके समान जिस शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण है। किन्तु नाभि से नीचे के अवयव अपूर्ण होने हो वह न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है वह जिस कर्म से प्राप्त होता है उसे न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थाननाम कर्म कहते है।

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तोते के पख के के समान हरा हो, वह नील नाम कर्म कहलाता है।

प्र० १७०-लोहित नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हिगलु या सिदुर जैसा लाल हो वह लोहित वर्ण नाम कर्म कहलाता है।

प्र० १७१-पीत नाम किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हल्दी के जैसा पीला या शख जैसा श्वेत हो, वह क्रम से पीतया श्वेत वर्ण नाम कर्म कहलाता है।

प्र० १७२-कटु नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस नीम या चिरायते जैसा कटु हो या सोठ, काली मिर्च जैसा चरपरा हो, उसे कटु नाम कर्म कहते हैं।

प्र० १७३-कषैला नाम किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदयसे जीवका शरीर आवला,वहेडा जैसा कषैला, नीबू, इमली जैसा खट्टा, जंख जैसा मीट्ठा हो वह क्रम से कषैला, खट्टा, मीट्ठा नाम कर्म कहलाता है।

प्र० १७४-सुरभिगध किसे कहते हैं।

उ० जिस कर्म के उदय से जीव की सुगध कपूर, कस्तुरी के समान हो, वह सुरभिगध नामकर्म है,यह तीर्थक्कर आदि उत्तम पुरुषो के होता है।

प्र० १७५-दुरभिगध किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव की गध लहसुनादि सडे पदार्थो जैसी हो, वह दुर्गंध नाम कर्म कहलाता है।

प्र० १७६-गुरु नाम किसे कहते है।

है, न एकदम हल्का होता है, उसे अगुरुलघु नाम कर्म कहते है ।

प्र० १८३-तीर्थंकर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के तीर्थंकर पद की प्राप्ति हो, उसे तीर्थंकर नाम कर्म कहते है ।

प्र० १८४-निर्माण नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म से उदय से अग और उपाग शरीर मे अपनी २ जगह व्यवस्थित रहते है, उसको निर्माण नाम कर्म कहते हैं ।

प्र० १८५-उपघात नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवो से प्रति जिह्वा, चौर दन्त, रसौली से दुख पाता है, उसे उपघात नाम कर्म कहते है ।

प्र० १८६-त्रस नाम कर्म किसे कहते है ?

उ० जो जीव सर्दी-गर्मी से अपना बचाव करने के लिए एक स्थान को छोडकर दूसरे स्थान को जावे, वह त्रस नाम कर्म है ।

प्र० १८७-वादर नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से आखो को गोचर होने वाले शरीर की प्राप्ति हो वह वादर नाम कर्म है ।

प्र० १८८-पर्याप्त नाम कर्म किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव अपनी २ पर्याप्तियो मे पूर्ण होते है, उसे पर्याप्त नाम कर्म कहते है ।

प्र० १८९-आहार पर्याप्त किसे कहते हैं ?

उ० जिस शक्ति के द्वारा जीव बाह्य आहार को ग्रहण कर उसे खल और रस रूप मे बदल दे, वह आहार

पर्याप्ति है ।

प्र० १९०-शरीर पर्याप्ति किसे कहते है ?

उ० जिस शक्ति के द्वारा जीव रस रूप मे बदले हुये आहार के सात धातुओ को रूप मे वदल देता है, वह शरीर पर्याप्ति कहलाता है ।

प्र० १९१-इन्द्रिय पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उ० जिस शक्ति के द्वारा जीव धातुओ के रूप मे बदले हुये आहार को इन्द्रियो के रूप मे कर दे, वह इन्द्रिय पर्याप्ति है ।

प्र० १९२-श्वाच्सोछ्वास पर्याप्ति किसे कहते है ?

उ० जिस शक्ति के द्वारा जीव श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलो को श्वासोच्छ्वास रूप मे वदल कर तथा अवलम्बन कर छोड देता है, उसे श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते है ।

प्र० १९३-भाषा पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उ० जिस शक्ति के द्वारा जीव भाषा योग्य पुद्गलो को लेकर उनको भाषा के रूप से वदल कर तथा अव-लम्बन कर छोड देता है, वह भाषा पर्याप्ति है ।

प्र० १९४-मन पर्याप्ति किसे कहते है ?

उ० जिस शक्ति के द्वारा जीव मनोयोग्य पुद्गलो को लेकर उनको मन के रूप से वदल देता है, अवलम्बन कर छोड देता है । वह मन.पर्याप्ति है ।

प्र० १९५-प्रत्येक नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे कहते हैं ।

प्र० १९६-स्थिर नाम किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से दात, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर

के अवयव स्थिर अर्थात् निश्चल होते हैं, उसे स्थिर नाम कर्म कहते है।

प्र० १९६-शुभ नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से नाभी के अवयव शुभ हो, उसे शुभ नाम कहते है।

प० १९८-सुभग नाम किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से किसी प्रकार का उपकार किये बिना या किसी तरह के सम्बन्ध के बिना भी जीव सब का प्रीति पाप्र हो, उसे सुभग नाम कहते हैं।

प्र० १९९-सुस्वर नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर मधुर और प्रीतिकर हो, वह सुस्वर नाम कर्म है।

प्र० २००-आदेय नाम किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो, उसे आदेय नाम कर्म कहते है।

प्र० २०२-यशोकीर्ति नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव की सर्वत यश और कीर्ति फैले, उसे कहते हैं।

प्र० २०३-स्थावर नाम किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहे, सर्दी-गर्मी से बचने की कोशिश न कर सके वह स्थावर नाम कर्म कहते है।

प्र० २०४-सूक्ष्म नाम किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसा शरीर जो किसी को रोक न सके, और न खुद ही किसी से रुक ही सके प्राप्त हो वह सूक्ष्म नाम कर्म कहलाता है।

प्र० २०५- अपर्याप्त नाम किसे कहते है।
उ० जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्ति नाम कर्म पूर्ण करे उसे, अपर्याप्त नाम कर्म कहते है।
प्र० २०६-साधारण नाम कर्म किसे कहते है ?
उ० जिस कर्म के उदय से, अनन्त जीवो का एक ही शरीर स्वामी हो, उसे साधारण नाम कर्म कहते है।
प्र० २०७-अस्थिर नाम किसे कहते है ?
उ० जिस कर्म से कान, भौंहे, जीभादि अवयव अस्थिर अर्थात चपल हो, उसे अस्थिर नाम कर्म कहते है।
प्र० २०८-अशुभ नाम किसे कहते हैं ?
उ० जिस कर्म के उदय, से नामि के नीचे के अवयव पैरादि अशुभ हो, वह अशुभ नाम कर्म है।
प्र० २०९-दुर्भग नाम किसे कहते है ?
उ० जिस कर्म के उदय से उपकार करने वाला भी प्रिय न हो, उसे दुर्भगनाम कहते है।
प्र० २१०-दुस्वर नाम किसे कहते है ?
उ० जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश, कठोर, जो सुनने मे अप्रिय लगे, वह दुस्वर नाम कर्म है।
प्र० २११-अनादेय नाम किसे कहते है ?
उ० जिस कर्म के उदय से जीव का वचन आदर युक्त होते हुए भी अनादरणीय हो उसे अनादेय नाम कहते है।
प्र० २१२-अयशोकीर्ति नाम किसे कहते है ?
उ० जिस कर्म के उदय से दुनिया मे अपयश और अपकीर्ति फैल, उसे अयशोकीर्ति नाम कहते है।

प्र० २१३-उच्चगोत्र कुल किसे कहते है ?

उ० जिस कर्म के उदय से उत्तम कुल मे जन्म पावे, उसे उच्चगोत्र नाम कर्म कहते है।

प्र० २१४-नीच कुल किसे कहते हैं ?

उ० जिस कर्म के उदय से नीच कुल मे जन्म पावे, उसे नीचगोत्र नाम कर्म कहते है।

प्र० २१५-उच्चकुल किसे कहते है ?

उ धर्म और नीति की रक्षा के सम्बन्ध से जिस कुल ने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है, उसे कहते है।

प्र० २१६-नीच कुल किसे कहते है ?

उ० अधर्म, अनीति आदि बुरे काम का पालन करने से जिस कुल ने चिरकाल से अप्रसिद्धि प्राप्त की हो, उसे नीच कुल कहते है।

प्र० २१७-दानान्तराय किसे कहते हैं ?

उ० दान की चीजे मौजूद हो, गुणवान पात्र हो, दान का फल जानता हो, तो भी जिस कर्म से जीव को दान करने का उत्साह न हो, उसे दानान्तराय कहते है।

प्र० २१८-लाभान्तराय किसे कहते है ?

उ० दाता उदार हो, दान की चीजें मौजुद हो, याचना मे कुशलता हो, तो भी जिस कर्म के उदय से लाभ न हो, सके, वह लाभान्तराय नाम कर्म जानना चाहिये।

प्र० २१९-भोगान्तराय किसे कहते है ?

उ० भोग के साधन मौजुद हो, वैराग्य न हो, तो भी जिस कर्म के उदय से भोग्य चीजो का भोग न हो सके, वह भोगान्तराय नाम कर्म है।

प्र० २२०-उपभोगान्तराय किसे कहते है ?

उ० उपभोग की सामग्री मौजुद हो, विरति न हो, तो भी जिस कर्म के उदय से उपभोग्य पदार्थों का उपभोग न कर सके, वह उपभोगान्तराय है ।

प्र० २२१-वीर्यान्तिराय किसे कहते है ?

उ० वीर्य का अर्थ है, सार्मथ्य, बलवान हो, रोग रहित हो, युवा हो, तथापि जिस कर्म के उदय से जीव एक तृण भी टेडा न कर सके, उसे वीर्यान्तिराय कहते है ।
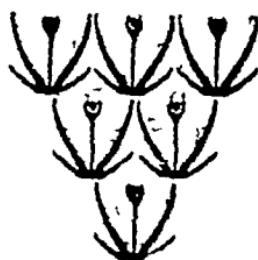
इति-प्रथम कर्म ग्रन्थ सम्पूर्ण

सामान्य प्रश्नोत्तर

प्र० १-स्तुति किसे कहते हैं ?

उ० असाधारण और वास्तविक गुणो का कथन ही स्तुति कहलाती है ।

प्र० २-बंध किसे कहते है ?

उ० मिथ्यात्वादि निमित्तो से ज्ञानावरण आदि रूप मे परिणित होकर कर्म पुद्गलो का आत्मा के साथ दूध पानी की तरह मिलजाना, उसे बंध कहते है ।

प्र० ३-अबाधाकाल किसे कहते है ?

उ० बंधे हुए कर्म से जितने समय तक आत्मा को बाधा नही होती है, अर्थात शुभाशुभ फल का वेदन नही होता, उतने समय को अबाधाकाल जानना चाहिये ।

प्र० ४-अपवर्तनाकरण किसे कहते है ?

उ० सभी कर्मों का अबाधाकाल अपनी २ स्थिति के अनुसार जुदा २ होता है । कभी तो वह अबाधाकाल स्वाभाविक क्रम से ही व्यतीत होता है, और कभी अपवर्तनाकरण से जल्द पूरा हो जाता है, जिस वीर्य शक्ति विशेष से पहले बंधे हुए कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते है, उसे अपवर्तनाकरण कहते है ।

प्र० ६-सत्ता किसे कहते है ?

उ० बधे हुए कर्म का अपने स्वरुप को न छोडकर आत्मा के साथ लगे रहना सप्ता । कहलाती हैं ।

प्र० ७-निर्जरा किसे कहते हैं ?

उ० बधे हुए कर्म का तप ध्यान आदि साधनो द्वारा आत्मा से अलग हो जाना निर्जरा कहलाती है ।

प्र० ८-सक्रमण करण किसे कहते हैं ?

उ० जिस वीर्यं शक्ति विशेष से कर्म एक स्वरुप को छोड-कर दूसरे सजातीय स्वरुप को प्राप्त कर लेता है, उसे वीर्य विशेष का नाम संक्रमण करण है ।

प्र० ९-स्थितिघात किसे कहते है ?

उ० जो कर्म दलिक आगे उदय मे आने वाले है, उन्हे अपर्वतनाकरण के द्वारा अपने २ उदय के नियत समयो हटा देना अर्थात् ज्ञानावरण आदि की बडी स्थिति को अपवतनाकरण से हटा देना, स्थितिघात है ।

प्र० १०-रसघात किसे कहते है ?

उ० बधे हुए ज्ञानावरणीय आदि कर्मो के प्रचुर रस को अपर्वतनाकरण से मद कर देना, यह रसघात है ।

प्र० ११-गुण श्रेणी किसे कहते है ?

उ० जिन कर्म दलिको का स्थितिघात किया जाता है, अर्थात जो कर्म दलिक अपने २ उदय के निमित्त समयो पर हटाये जाते है, उनको प्रथम के अन्तर्मुहूर्त मे स्थापित करना । गुणश्रेणी कहलाती है ।

प्र० १२-गुणसक्रमण किसे कहते है ?

उ० जिन शुभ कर्म प्रकृतियो का ब ध अभी हो रहा है, उनमे पहले बाधी हुई अशुभ प्रकृतियों का सक्रमण

कर देना, अर्थात् पहले बाधी हुई अशुभ प्रकृतियो को वर्तमान बंध वाली शुभ प्रकृतियो के रुप मे परिणित करना गुणसंक्रमण है ।

प्र० १३-अपूर्व स्थिति बधे किसे कहते है ?

उ० पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्पस्थिति वाले कर्मो को बाधना, अपूर्वस्थितिबध कहलाता है ।

प्र० १४-अभिनव कर्म ग्रहण किसे कहते है ?

उ० जिस आकाशछेत्र मे आत्मा के प्रदेश है, उसी छेत्र मे रहने वाली कर्म योग्य पुद्गल स्कन्धो की वर्गणाओ को कर्म रूप मे परिणित कर जीव के द्वारा उनका ग्रहण होना, यही अभिनव कर्म ग्रहण है ।

—: समाप्त :—

मालव भूमि के रत्नपुरी में प्रथम बार कर्म ग्रन्थ के प्रकाशन का सादर अभिनन्दन

धरमार्थी चांदमल राजमल